श्री पूर्णचन्द्र संस्करण

जीवन रहस्य

अथवा

उत्पादिनी शक्ति

[Sex and Spirituality]

स्वामी रामानन्द ब्रह्मचारी एम० ए०

मूल्य १।)

विषयानुक्रमणिका

प्रकाशक की ओर से

श्रद्धेय श्री स्वामी रामानन्द जी की पुस्तक "उत्पादिनी-शक्ति" को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने में हमें हर्ष हो रहा है। 'अध्यात्म-विकास', एवं 'आध्यात्मिक-साधन' (२ खण्ड) के उपरांत "उत्पादिनी-शक्ति" भी साधकों के लिए जीवन के प्रति एक सरल, सबल और स्वस्थ दृष्टिकोण बनाने में, जीवन के महान लक्ष्य को समझने में, तथा उसकी ओर बढ़ने में विशेष सहायक होगी, ऐसी हम आशा करते हैं।

'काम वासना' उसका दमन अथवा तृप्ति ? वर्तमान युग की एक विषम पहेलिका है ! आधुनिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ने हमारी दृष्टि को धूमिल कर दिया है। उसने आत्म-परिष्कार के उस पुनीत लक्ष्य को ही हमारी दृष्टि से एकदम ओझल कर दिया है। आध्यात्मिक साधना में तो इस समस्या को सुलझाना ही होता है। ऐसा किये बिना प्रगति असंभव है। वर्तमान पुस्तक अध्यात्म के ऊँचे दृष्टिकोण से इस समस्या को समझने और सुलझाने का प्रयत्न है। आध्यात्मिक साधना में इस विषय में व्यवहारिक पथप्रदर्शन प्रदान करती है।

पुस्तक बहुत दिनों से लिखी रक्खी थी परंतु प्रकाशन का समुचित प्रबंध न हो सका ! वर्तमान संस्करण, खानपुर जिला बुलन्दशहर वाले, श्री पूर्णचन्द्र जी की स्मृति में निकाला जा रहा है। इसका सारा खर्चा उनकी धर्मपत्नी श्रीमती राजकुमारी द्वारा उठाया गया है। हम उनके लिए बहुत बहुत आभारी हैं।

अंत में हमें उन सभी सज्जनों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करनी है जिन्होंने इसके प्रकाशन में योग दिया है—

काशीनाथ मित्तल
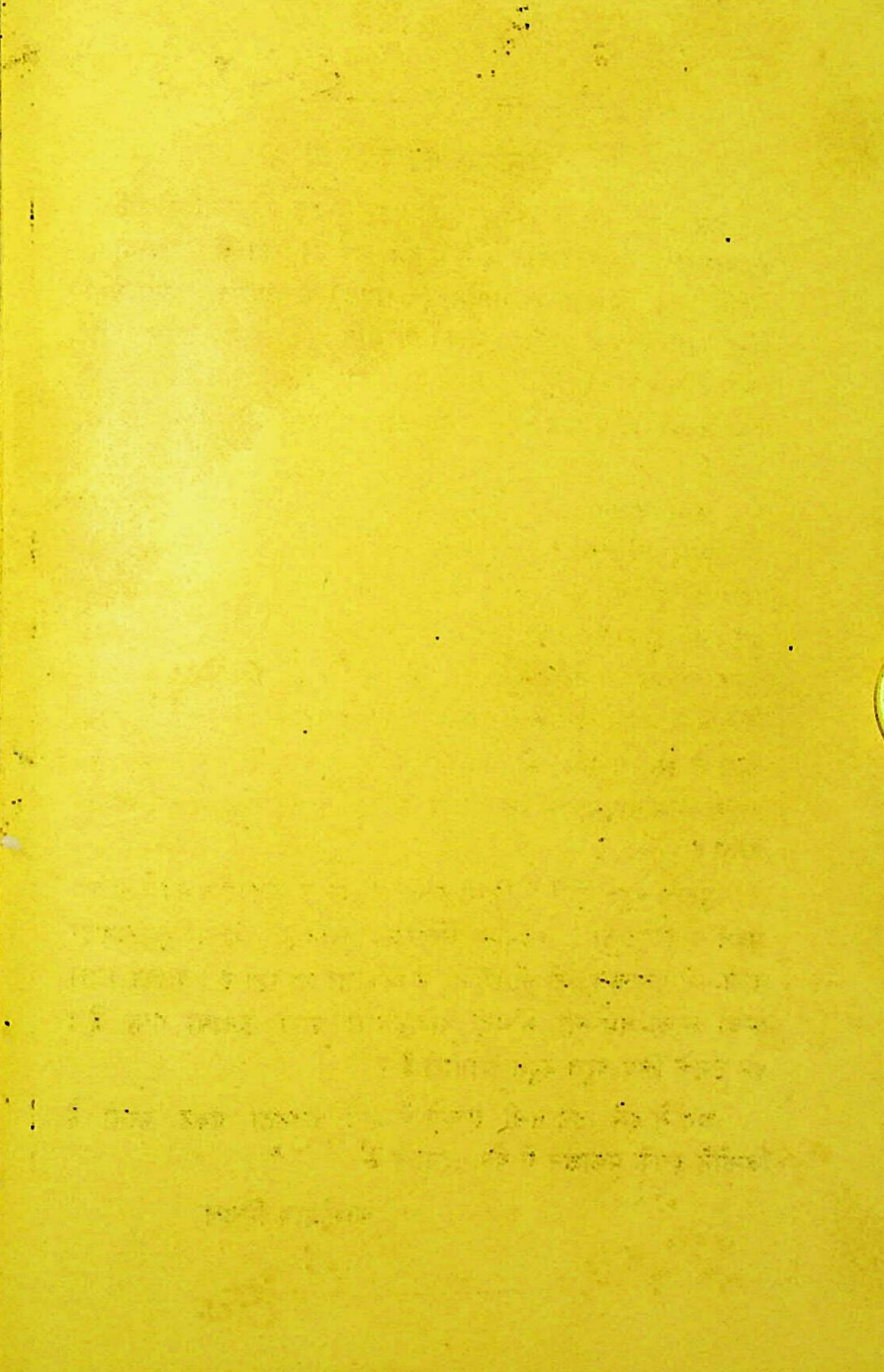
श्री स्वामी रामानन्द जी

पहली बातें

प्रिय बन्धु,

१६४७ की गर्मियों में होने वाले अध्यात्म साधन कैम्प में भाग लेने वाले साधक बन्धुओं से काम-शक्ति के बारे में चर्चा करने का मुझे अवसर मिला था। इस सेवा-क्षेत्र में काम करते हुए यह पहिला अवसर था जब मैंने इस विषय पर अपना मुँह खोला। यह विषय बहुत महत्व का है। प्रत्येक साधक तथा साधिका के जीवन में काम-शक्ति एक समस्या होती है। उस विषय में विचित्र धारणायें प्रचलित हैं। एक ओर कठोर संयम का पथ और दूसरी ओर पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों और डाक्टरों की बिलकुल प्रतिकूल मतियाँ। उस पर होता है आन्तरिक संघर्ष। सभी मिल कर साधकों को भ्रम में डाल देने की योग्यता रखते हैं।

आवश्यकता की ही मांग थी जिसकी प्रेरणा से यह चर्चा हुई और साधक बन्धुओं के लिए वह बहुत हित कर रही है, ऐसा समझ में आया। यह बातें और मित्रों तक भी पहुँच जायें, इसलिये उन प्रवचनों के आधार पर यह थोड़े से पृष्ठ लिखे गये हैं। समय की सीमा के कारण कई बातें जो वहाँ नहीं कही जा सकीं थी। वह भी यहाँ लिखनी आवश्यक समझी गई हैं। सामाजिक दृष्टि कोण से भी इस विषय पर चर्चा करनी आवश्यक प्रतीत हुई, अतः अन्तिम थोड़े से परिच्छेद उस काम के लिए रक्खे गये हैं।

पाठकों में यह उत्सुकता होनी स्वाभाविक है कि मैंने इन पत्रों को किस आधार पर लिखा है?

क्या यह दूसरों की लिखी और कही बातों का सार मात्र है। अथवा कुछ और?

मैं एक सामान्य साधक रहा हूँ और अब भी अपने को ऐसा ही समझता हूँ। मैं स्वयं इस काम की सहज प्रवृत्ति१ से मुक्त ही पैदा नहीं हुआ था। इस वासना के कारण इस जीवन में भी हलचल रही है और उस हलचल की क्रमिकर शान्ति अपने में एक महत्वपूर्ण अनुभव रहा है। मैं ने व्यवहार के योग्य जो बातें यहाँ पर लिखी है उनमें बहुत जगह मेरा अनुभव ही आधार है।

जो बातें गृहस्थी के जीवन से सम्बन्ध रखती हैं उनके विषय में तो मैं अपने मित्रों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिन्होंने अपनी कठिनाइयाँ और अनुभव खुले दिल से समय समय पर मेरे सामने रक्खा है। और मैंने अपनी समझ के अनुसार रास्ता सुझाने की चेष्टा भी की है। मैं आगे के लिये आशा भी करता हूँ कि बन्धु लोग अपनी समस्यायें निःसंकोच भाव से मेरे सामने रक्खेंगे; जिससे मैं भी और सीख पावूंगा और सम्भवतः अपनी समझ के मुताबिक उनके लिए भी हित-कर सुझाव पेश कर सकूं।

इस विषय का अध्ययन प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के साथ गहरा सम्बन्ध रखता है। इस विषय में प्रचलित साहित्य को देखने का अवसर भी मुझे मिला है। उसके बिना पढ़े हुए भी मेरा रास्ता ऐसा साफ न होता जैसा हो गया है। इस विषय में अध्ययन करते समय बहुत विवेक वर्त्तने की आवश्यकता है। कुछ भयभीत कर डालने वाली पुस्तकें बहुत अहितकर हैं। ऐसी

---

१ पैदायशी रुझान। २ काम से सम्बन्ध रखने वाली इच्छाओं की।

मेरी निश्चित धारणा बन चुकी है। इसके साथ ही साथ ग़ैर ज़िम्मेदार लोगों ने जो बातें कह दी हैं उन्हें भी ग्रहण करने में सावधान रहना चाहिए। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों की सेवाओं के लिए आभारी प्रतीत करता हुआ भी मैं यह नहीं कह सकता कि जो कुछ वह कहते हैं सभी सत्य है और ग्रहण करने के योग्य है। पश्चिम तथा पूर्व, नवीन तथा पुरातन[१] के पक्षपात से परे होकर ऊँची से ऊँची साफ़ से साफ़ बुद्धि के द्वारा हमें अपना रास्ता ढूंढ निकालना है।

यदि यह पन्ने किसी भी व्यक्ति के लिये आदर्श को स्पष्ट करने में, और पथ को साफ़ साफ़ दिखाने में तनिक भी सहायक हों तो मैं समझूंगा कि यह कलम घिसाई व्यर्थ नहीं गई।

मैं उन सभी मित्रों का आभारी[२] हूँ जिन्होंने इस पुस्तक को वर्त्तमान स्वरूप में लाने में सहायता की है। यह वास्तव में उन सभी लोगों की—आप सभी लोगों की वस्तु है। मैं तो क़लम सा बना लिख गया हूँ। मुझे ऐसा प्रतीत होता है।

आप लोगों के हृदय में चैतन्य की स्फूर्ति हो! स्थिर, गहरी लगन जगे। पवित्रता के शिखर को पाने के लिए आप का जीवन सौम्य चिन्मय[३] शक्तिमता से पूर्ण हो, और आप प्रभु में निवास करने लगें। पूरी तरह से उसके होकर। यही मेरी हार्दिक भावना है। मां उसे पूर्ण कर दे। मैं हूँ।

आपका अपना
उसी के नाते,
राम नन्द।

---

१ पुराना। २ अहसान मानने वाला। ३ ज्ञान तथा प्रयत्न से भरी हुई।

असतो मा सद् गमय !
तमसो मा ज्योतिर्गमय !!
मृत्योर्मा अमृतं गमय !!!

अपूर्णताओं से परे पूर्णत्व के शुभ धाम में !
ले चलो हे देव, मुझको, अज्ञता से ज्ञान में ।
मरण धर्मा मैं रहूँ न अमर कर दो हे प्रभो !
सत्य दो शुभ्र ज्योति दो अमरत्व का शुभ दान दो ॥
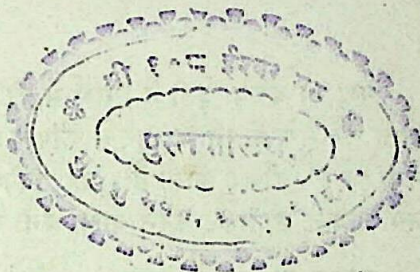
उत्पादिनी-शक्ति

उत्पत्ति

नूतन जीवन ! उत्पत्ति ! नई रचना ! यही है उस प्रभु प्यारे की विस्मयकारक लीला का महान् आश्चर्य !

एक में से अनेक का विकास होता है। और वह अनेक, साथ ही साथ एकता में, विनाशकी अरूपता* में लीन होते चले जाते हैं। बीज गलकर पृथ्वी में से नन्हीं कोपल बन कर झाँकने लगता है, बड़ा होता है, पुष्पित होता है। उस पर फल उगते हैं। उनके गर्भ में बीज निहित रहता है। अनेकों फल और अनेकों बीज ! अनेक नूतन सजीव पौदों की सम्भावनाएँ—यह चक्कर चलता ही जाता है।

---

* लय; रूप का लोप होना।

पशु माँ बच्चा देती है। गर्भ में ही इस नये 'फल' का निर्माण होता है। नये जीवन के भार से काँपता हुआ बच्चा इस दुनियाँ में नया 'फल' होकर आता है। वह अपनी जीवन लीला में कई नये जीवनों को प्रकट करने वाला बन जाता है।

मानव मां गर्भ में ही मानव शरीर का निर्माण कर डालती है, अनजाने ही, अनदेखे ही। वह शरीर जिसे हम समझते तक नहीं पूरी तरह से, नन्हीं सी चुसकती हुई जान के भार को लेकर कोमल कोमल अंगों में मानवता* को सम्हाले, इस दुनिया के प्रकाश में आता है। कितनी महान् घटना है, वह उस बालक के जीवन में, इस समाज के जीवन में, और मानवता के इतिहास में? मां को मातृत्व का गर्व होता है। पिता को पितृत्व का भान होता है। रचना का श्रेय दोनों को है। समाज अपने नये घटक को पाकर फूलता है।

मनुष्य यन्त्र है। पशु भी यन्त्र है। और पौदा भी यन्त्र ही है। इन सब में उस प्रभु की रचना करने वाली शक्ति महामाया महामाता महाशक्ति ही अपना खेल करती है। वह अदृश्य को दृश्य में लाती है और दृश्य को लौटा ले जाती है अदृश्य में। वह एक को अनेक करती है और अनेक को फिर से एक कर डालती है। इस अनेक तथा एक के बीच में सृष्टि का सारा क्रम चलता है। भागवती विधान चलता है। विकास क्रम चलता है और उसकी शक्ति का विकास होता है।

---

* मनुष्यत्व।

उपनिषद् कहता है प्रभु के बारे में, कि वह अनेक होना चाहता है एक से। एकोऽहं बहुस्याम्* और उस अनेकत्व के लिए उसे भी लय करना होता है—वह एक अपने एकत्व का आंशिक त्याग करके ही अनेकत्व को प्रकट कर पाता है। यह एक यज्ञ है। ऋग्वेद का पुरुष सूक्त तो बहुत सुन्दर रूप में इस सृष्टि यज्ञ का वर्णन करता है। यज्ञ का मूल है त्याग—अपनेपन को गला देना, दे देना। यही वास्तव में नूतन रचना के मूल में है। इतना महान् कार्य इसके बिना सम्भव नहीं।

पुरुषोत्तम बलि देता है और उस बलि से इस विश्व की रचना होती है। पुरुष अपने वीर्य का, सर्वोत्कृष्ट रस का ही दान नहीं करता। उसके साथ अपनी संजीवनी प्राण-शक्ति का भी होम करता है। स्त्री अपने रक्त का दान करती है। अपने गर्भाशय का का होम करती है। अपनी शक्ति को लगा देती है। अपनी जान ही मानों गला देती है। तब कहीं बच्चे का मुंह देखने को मिलता है। कोई जीव तो ऐसा भी है कि सम्भोग का अर्थ उसके लिए प्राण विसर्जन होता है। अतः वह अपनी सन्तान का मुख कभी नहीं देख पाता।

सन्तान यज्ञ है। यह महान् त्याग है। इसके द्वारा ही हमारे माता पिता ने हमारे लिए शरीर का निर्माण किया और हमें इस पृथ्वी पर कर्म क्षेत्र में लाकर कर्म करके, अनुभव करके, विकास पथ में आगे बढ़ने का अवसर दिया। इसीलिए हिन्दू शास्त्र तो सन्तानोत्पत्ति को अनिवार्य ठहराते हैं—अपने लिए नहीं, समाज की दृष्टि से, मानवता की दृष्टि से।

---

* मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ—देखिये पुरुष सूक्त।

इस सन्तान-यज्ञ में व्यक्ति, प्रभु की रचनात्मक शक्ति का, जो उसके प्राण में रक्खी गई है, उपयोग करता है। वह प्रभु के महान् रचना के कार्य में योग देता है। वह पितृऋण को भी चुकाता है। किसी ने उसे शरीर दिया, वह किसी और के लिए शरीर निर्माण करता है। यही तरीका है इस ऋण से मुक्त होने का।

इस नूतन रचना के पवित्र कार्य को किसी और दृष्टि से देखना गलती करना है। अपने को दूषित करना है। गर्भाधान एक संस्कार है। यह एक पवित्र धार्मिक कृत्य समझा जाता रहा है आर्य संस्कृति* में।

सन्तानोत्पत्ति की योग्यता लाभ करने के लिए ब्रह्म तथा मनु तपस्या करते हैं।

काम कालिमा§ से कलुषित मानव मन इस पवित्रता को समझ नहीं पाता। ठोस सत्य भी उसकी कामान्धता$ के सामने छिप जाता है। इस सत्य को हम जितना समझेंगे, उतना ही मातृत्व तथा पितृत्व के महत्व का हमें बोध हो पायेगा। यह खेल मात्र न रहेगा। मातृ तथा पितृ शक्ति के आगे हमारा सिर झुकेगा। उसका आवाहन होगा सोच समझ कर और सन्तति † भी उस भाव के अनुकूल ही होगी। वह संतति पृथ्वी को स्वर्ग बनाने की योग्यता रक्खेगी।

---

* सभ्यता, तहज़ीब।

§ काजल, दोष।

$ काम के जोश से पैदा हुआ अन्धापन।

† सन्तान, बच्चे।

नई सृष्टि के तरीके

गुलाब की कलम लगाई जाती है। वह फूट निकलता है। उसके बीज नहीं लगाने होते। असरूद की शाखा से भी पौदा तैयार किया जाता है। कहते हैं--उसमें बीज कम होते हैं। इसी तरह से कई पौदे बिना बीज के ही बनते हैं।

†जैवी जगत् में भी, कई विकास-श्रेणी के निम्नतर जीव हैं जो अंग विच्छेद से ही, काटने से ही, एक के दो हो जाते हैं। और दोनों अलग-अलग अपने में पूरे जीते और बढ़ते चले जाते हैं। बैक्टीरिया तो ऐसे ही पनपता है। जरा सा दही सारे दूध को दही बना देता है। परन्तु यह तो जैवी विकास क्रम में पुरानी; बहुत पहिले की बातें हैं।

वनस्पति जगत् का नियम तो और ही है।

भँवर फूल से फूल पर जाता है। तितलियाँ पुष्प पुञ्जों* में इठलाती फिरती हैं। मधुमक्खियाँ फूलों से मधु चूसती हैं। वायु फूलों की पराग उड़ाता फिरता है। आप जानते हैं इस सब के पीछे क्या लीला होती रहती है? पौदों में भी स्त्री और पुरुष होते हैं। स्त्री पौदों में अण्डकोष रहते हैं जिनमें अण्डे (रजकण) रहते हैं। और पुरुष पौदों में पराग (वीर्यकण) होते हैं। भँवर के, तितली के अथवा मधुमक्खी के पावों से पराग चिपक जाता है। वह दूसरे फूलों पर बैठता है और वहाँ उसे छोड़ता जाता है। कहीं पर इस काम को वायु करती है।

---

† जीवों की।

* समूह।

पुरुष पुष्पों के वीर्यकण स्त्री पुष्पों तक पहुँच जाते हैं। प्रकृति के बनाये विस्मयकर† तरीकों से वह कण अण्डकोष में प्रवेश पा जाते हैं, और वहां रज तथा वीर्य कणों के संयोग से बीज बनता है। ऐसे बने हुए बीजों से ही फलों का भी निर्माण सम्भव होता है और नये पौदों का भी।

गेहूँ इस प्रकार से बने बीज हैं। अनार के बीज भी सभी ऐसे बनते हैं और ऐसे ही सरसों और गूलर के बीज बनते हैं। सम्भवतः सारे के सारे वनस्पति जगत् की रचना ऐसे ही होती है। उसी से पशुओं और मनुष्यों का जीव धारण होता है।

पशुओं के बारे में तो जानकारी प्रायः सभी को है। रज, वीर्य के संयोग से गर्भ स्थापना होती है और वह बीज स्त्री-पशु के गर्भाशय$ में, जैसे पृथ्वी में पौदा पनपता चला जाता है। एक खास मात्रा में बढ़ जाने पर, बच्चे के बाह्य जगत में रह सकने के योग्य होने पर, वह गर्भाशय से निकल आता है। फिर उसका स्वतन्त्र जीवन आरम्भ होता है।

शायद पाठकों का विचार हो कि यह स्त्री पुरुष भेद चेतन जगत तक ही सीमित है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं। बिजली के बारे में आप जानते ही होंगे। वह धनात्मक और ऋणात्मक होती है। इन दोनों के संयोग से ही वास्तव में बिजली होती है। और उसके प्रभाव सम्भव होते हैं।

चुम्बक की शक्ति (जिसे मैगनेटिज्म कहा जाता है) वह भी दो

---

† ताज्जुब पैदा करने वाले।

$ बच्चेदानी।

प्रकार की होती है। उन दोनों के योग से ही उसकी विशिष्ट*
क्रियायें सम्भव हैं।

इस प्रकार का आकर्षण और भी गहराई तक जाता है। अवि-
भाज्य† अणुओं (एलीमेन्ट्स) में कोई ऋणात्मक और कुछ धना-
त्मक हैं। इन दो श्रेणियों के परमाणुओं में रासायनिक क्रिया जल्दी
होती है, मानों वह रासायनिक संयोग के पिपासु‡ हों। इस रासा-
यनिक भोग से नई सृष्टि होती है, कम्पाउण्ड्ज़ बनते हैं।

वह परम सत्ता भी अपनी प्रकृति में गर्भ का आधान
करती है।

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्व भूतानाम् ततो भवति भारत॥ (गीता)

महद् ब्रह्म मेरी (अपरा) प्रकृति है। मैं उसमें गर्भ चेतना रूपी
वीर्य को रखता हूँ। उसी से सभी भूतों की उत्पत्ति होती है। वही
परमसत्ता दो होकर रचना के काम को चलाती है। उस दो से फिर
एक सृष्टि की उत्पत्ति होती है। वह सत्ता दो हुई रचना करती चली
जाती है। इसके बिना सृष्टि का काम चलना ही असम्भव है।

इसमें क्या विस्मय की बात है कि मनुष्य शरीर के निर्माण
के लिए स्त्री के रज और पुरुष के वीर्य के संयोग की आवश्यकता
हो। यह वही क्रिया है जो हमें सर्वत्र प्रकृति में दिखाई पड़ती है।
इसके बिना बीज ही नहीं बनता। दोनों के संयोग से बना हुआ
बीज माता के गर्भाशय में बड़ा होता है। माता के रक्त की धारा ही
उसके लिए खाद का काम देती है। माता की प्राण शक्ति ही उसे

---

* खास। † जिनके टुकड़े नहीं हो सकते। ‡ प्यासे।

प्राण दान देती है और वह बढ़ता हुआ, एक दिन इस योग्य होता है कि उसकी जीवन लीला गर्भाशय के बाहिर भी सम्भव हो जाती है। तभी वह पैदा होता है, गर्भाशय के बाहर आता है।

इस प्रकृति की क्रिया को अपने मानसिक विचारों के कारण ही हम इतना गोपनीय§ बनाए हुए हैं। यह तो महान विस्मय-कर क्रिया है। इसी के द्वारा सभी के शरीरों का निर्माण होता है। इसमें गोपनीय कुछ भी नहीं। हृदय में से काम के दोष को और उसके साथ लगे संकोच को दूर करने की आवश्यकता है। फिर यह भागवती लीला का पूजनीय परम रहस्य ही दीखेगा।

इन्द्रियाँ और उनका क्षेत्र

बाहिर की दुनिया हम पर क्रिया करती है और हम बाहिर की दुनियां पर क्रिया करते हैं। हमारा स्थूल शरीर ही इस क्रिया प्रतिक्रिया में, हमारे और दुनियां के बीच में सीमा है। प्रकाश, गर्मी, सर्दी, शब्द के स्पन्दन* आदि कई प्रकार के प्रभाव इस शरीर पर पड़ते हैं। जिन आन्तरिक साधनों द्वारा हम इन प्रभावों को ग्रहण करते हैं वे ज्ञानेन्द्रियां हैं। जिन साधनों द्वारा हम दुनियां पर क्रिया करते हैं, दूसरों को प्रभावित करते हैं, वे कर्मेन्द्रियां कहलाती हैं। दूसरों को प्रभावित करने में हम स्वयं भी प्रभावित होते हैं, यह कहने की आवश्यकता न होनी चाहिए। जैवी विकास में वे दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ धीरे-धीरे विकसित होती हैं, और अधिकाधिक विशिष्ट‡ होती चली जाती हैं।

---

§ छिपाने के योग्य।

* लहर, हलचल।

‡ अलग-अलग गुण रखने वाली।

जीवन यात्रा को चलाने के लिए और कर्म में प्रेरित कर अनुभव प्रदान करने के लिए हमारे में कुछ सहज प्रवृत्तियां (इन्स्टिंक्ट्स) रहती हैं। वनस्पतियों का भी स्वभाव होता है। आत्मरक्षा के लिए, भोजन प्राप्त करने के लिए और अपने सन्तान क्रम को बनाए रखने के लिए वह विचित्र प्रकार के तरीके बरतती हैं। सोचने की शक्ति न होने पर भी, किसी प्रकार के अभ्यास के न करने पर भी, वह प्रवृत्ति सहज में ही वनस्पति में प्रकट हो जाती है। इसलिए उन्हें सहज प्रवृत्ति कहते हैं। पशुओं, पक्षिओं, कीट पतंगों में तो यह प्रवृत्तियां बड़ी ही स्पष्ट होती हैं। मधु-मक्खियाँ और चीटियां अपना गांव बसाती हैं और शासन-व्यवस्था स्थापित करती हैं, भोजन जमा करती हैं।

पक्षी मौसम आने पर एक जगह से दूसरी जगह चले जाते हैं। मौसम आने पर बच्चे देने के लिए घोंसला बनाते हैं। अपने भोजन के विषय में सूंघ कर ही जान लेते हैं। बीमार होने पर खाना छोड़ देते हैं। दुश्मन से बचने के लिये आश्चर्य-कर उपाय बरतते हैं। यह सभी प्रवृत्तियाँ सहज हैं क्योंकि जन्म सिद्ध* हैं, शिक्षा पर निर्भर नहीं।

सहज प्रवृत्तियों की क्रियायें कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ही होती हैं, अतः इन में परस्पर बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। जानवरों में इन्द्रियों का क्षेत्र सहज प्रवृत्तियों तक ही सीमित दिखाई देता है।

---

* पैदाइशी सीखी हुई, जन्म से प्राप्त।

शरीर को बनाये रखने की चेष्टा एक सहज प्रवृत्ति है। इसके लिए ही भूख की प्रतीति होती है। पशु खाने को ढूंढता है। नाक, कान और आँख उसे भोजन प्राप्त करने के लिए रास्ता दिखाते हैं। हाथ पाँव उसे भोजन प्राप्त करने में सहायक होते हैं। भोजन प्राप्त होने पर नाक और जिह्वा खाद्य† अखाद्य का विवेक करते हैं, और खाने की मात्रा का बोध भी सहज में उसे भूख की परिशान्ति‡ से हो जाता है। जितना उनकी शरीर यात्रा के लिए आवश्यक होता है पशु उतना ही खाता है। वह स्वाद के लिए नहीं खाता, भोजन अधिक होने पर छोड़ देता है।

अंडे देने के लिए घोंसला बनाना आवश्यक होता है। अपने उपयोग लायक घोंसला बनाता है, उसमें अंडे देता है और इससे अधिक और घोंसले बना कर जमा करने का वह प्रयत्न नहीं करता। बस, इतना ही शरीर को वह बरतता है जितना आवश्यक है। संतति बनाए रखने के लिए उसमें काम वासना पैदा होती है! स्त्री-पुरुष पशु-पक्षियों का संयोग होता है। गर्भाधान हो जाता है। वह काम वासना शान्त हो जाती है। वह दोनों स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, नई सन्तति के लिए सामान जोड़ने में लग जाते हैं।

हमने देखा है जिह्वा का प्रयोग भूख–शरीर रक्षा तक सीमित है। निर्माण की शक्ति घोंसले बनाने तक सीमित है और जननेन्द्रिय का रचनात्मक उपयोग संतति-उत्पादन तक ही।

---

† खाने के योग्य।

‡ पूरी शान्ति

कर्मेन्द्रियों का समुचित उपयोग व्यक्ति के लिए आनन्दप्रद होता है। शक्ति का विलास आनन्द का कारण हुआ करता है। भूख लगी हो और भोजन स्वस्थकर हो तो आनन्द आता है। शरीर ठीक हो तो चलना फिरना, काम करना सुखद होता है। कहने को हो तो बात करना आनन्दप्रद होता है। इसी प्रकार कामोपभोग की क्रिया भी एक आनन्द देती है। कर्मेन्द्रियों के साथ आनन्द का लगा रहना समुचित ही है। व्यक्ति इसके कारण कर्म में प्रवृत्त हो पाता है। कर्म में शक्ति का होने वाला ह्रास† मानसिक क्षेत्र में आनन्द द्वारा किसी हद तक पूरित किया जाता है।

मनुष्य में मानसिक शक्ति का उद्‌गम हो जाता है। वह कर्मेन्द्रियों के उपयोग के साथ अनुभव होने वाले आनन्द का मनन करता है। उस आनन्द के प्रति आकर्षण होता है। वह उस आनन्द को चाहने लगता है और उसी आनन्द के लिये इन्द्रियों का उपयोग होने लगता है। स्वाद के लिए खाना, संग्रह के सन्तोष के लिए निर्माण, और कामोपभोग के आनन्द के लिए सम्भोग होने लगता है। इन्द्रियाँ अपनी सहज सीमाओं को (जो सहज प्रवृत्तियों द्वारा निर्धारित$ थीं) छोड़ कर आनन्द प्राप्ति के साधन बन जाती हैं। इसी को वास्तव में व्यभिचार कहना चाहिए। यह हमारा इन्द्रियों के साथ व्यभिचार है, उनका दुरुपयोग है।

इसका परिणाम भी घोर होता है। इन्द्रियाँ अपनी सहज बोध और सहज शक्ति को खो देती हैं। आनन्द के लिये खाना

---

†—कमी, नुकसान। $—निश्चित।

खाया जाने लगता है, तो जबान खाद्य अखाद्य के विवेक को खो बैठती है। पेट अपनी पाचन शक्ति को खो देता है। हाथ पाँव आनन्द प्राप्ति के लिये बरते जाने लगते हैं तो वे शिथिल होने लगते हैं। जननेन्द्रिय का उपयोग आनन्द प्राप्त करने के लिये होता है, तो वह अपने बल को ही नहीं खो देती, शरीर को भी क्षीण करती है, मनः शक्ति का भी ह्रास कर देती है। इस प्रकार से इन्द्रियों का अनुचित उपयोग शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक जीवन में वैषम्य का कारण होता है। इन्द्रियाँ आनन्द का साधन नहीं हैं। जो व्यक्ति उनको आनन्द के लिये बरतने लगता है, वह उस आनन्द के लिये जीवन-शक्ति के ह्रास के रूप में कीमत देता है और अपने मनोबल को भी खोता है। मानसिक विकार भी उसके पल्ले पड़ते हैं। इन्द्रियों का समुचित उपयोग ही संयम का मौलिक अर्थ है। जिस-जिस काम के लिये इन्द्रियाँ हैं, उस उस काम को उनसे लेना ही उचित उपयोग है इन्द्रियों का। इसी में स्वास्थ्य है, इसी में सौम्यता और इसी में विकास की अग्र गति।

आधुनिक मनोविज्ञान और काम

फ्राइड ने काम शक्ति (लिबिडो†) को ही जीवन की एक मात्र प्रेरिका माना है। शिशु के मातृ-स्तन पान से ही इस काम शक्ति का क्षेत्र आरम्भ हो जाता है। फ्रायड के मत के अनुसार बच्चा पिता का प्रतिद्वन्द्वी होकर माता का प्रेमी बन जाता है। इस शक्ति पर होने वाले दबाव के कारण अनेक प्रकार की मनोग्रन्थियों‡ का निर्माण बच्चे में होने लगता है। बड़े होते-होते

---

† Libido. ‡ मन के क्षेत्र की गांठें; Complex.

यह कई रोगों का कारण हो जाता है। फ्रायड का मनोविज्ञान काम शक्ति को ही हर जगह पाता है। क्या स्वप्न में, क्या जाग्रत में, क्या मातृस्नेह में और क्या भगिनी स्नेह में। यदि यह कहा जाय कि फ्रायड को जगत् काममय दीखता है, तो अत्युक्ति न होगी।

फ्रायड के अनुसन्धानों* ने मनोविज्ञान को बहुत आगे बढ़ाया है। सुप्त मन का विवेचन और उसके अनुयायियों एडलर तथा जुंग द्वारा बाल मन (child mind) और अचेतन (unconscious) मन के विवेचन ने हमारे दृष्टि-कोण को बहुत विस्तीर्ण कर दिया है। फ्रायड आदि की मनोविश्लेषण‡ की पद्धति ने अनेक रोगियों को रोग मुक्त भी किया है। इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

काम शक्ति मनुष्य जीवन की मौलिक शक्ति है, यह मैं पहिले भी कह आया हूँ। यह जीवन की प्रधान और आदि प्रेरिका भी है, यह भी सत्य है। यह प्रभु की रचनात्मक शक्ति है जिसका पात्र मनुष्य ही नहीं, नीची कोटि के जीव जन्तु भी हैं। सृष्टि का सृजन-कृत्य इसी के कारण सम्भव है।

परन्तु तनिक विशाल और ऊँचे दृष्टि कोण से इस काम के स्वरूप को समझने की चेष्टा करें तो हमें पता चलेगा कि स्त्री पुरुष का परस्पर आकर्षण और संयोग ही इसका स्वरूप नहीं है। ठोस पदार्थ ठोस पदार्थ को खींचते हैं। गुरुत्वाकर्षण$ वैज्ञानिक

---

* खोजों।

‡ भावों की परीक्षा।

$ संतान पैदा करने की क्रिया।

* पृथ्वी इत्यादि का आकर्षण शक्ति Gravitation.

सत्य है। अविभाज्य अणुओं में परस्पर आकर्षण होता है। ऋणा-त्मक तथा धनात्मक बिजली आपस में मानों एक दूसरे की पूरक हैं। जैवी क्षेत्र में प्राण (पुरुष) रयि (स्त्री) से संयोग चाहता है। मानसिक क्षेत्र में प्रेमी प्रेमी से मानसिक योग को चाहता है। मन के विशुद्ध क्षेत्रों में प्रेम भी विशुद्ध हो जाता है। बुद्धि भी समन्वय की मांग करती है, अपने क्षेत्र में। आत्मा आत्मा से एकत्व को चाहता है। इस सबके मूल में हमें एक सृष्टि की मौलिक प्रेरणा दीखती है। अनेक एक होना चाहते हैं, समीप होना चाहते हैं। समीपता आनन्द प्रद है। भेद अस्वाभाविक तथा दुःखद है।

रचना का सामर्थ्य हमारा निजी वा आत्मा का सामर्थ्य है। आत्मा संकल्प के द्वारा निर्माण करता है। बुद्धि के द्वारा विचार का निर्माण होता है और हृदय के द्वारा भाव का। प्राण के द्वारा शरीर का निर्माण होता है। वही आत्मा की निर्माण शक्ति प्राण में आकर काम के रूप को ग्रहण करती है। प्राण जीवन का सामर्थ्य (Vital force) है, वही जो प्राण में काम है, जड़ पदार्थों में आकर्षण है और सन्त की आत्मा में विशुद्ध प्रेम है, ज्ञान है, शक्ति है। उसके केवल एक ही रूप को देखना बहुत कम देखना है, आंशिक सत्य को ही जानना है। काम की शक्ति, इसी आत्मशक्ति का मनुष्य के लिये सहज सुलभ रूप है। इससे उत्पन्न होने वाले काम स्पन्दनों को वह शरीर तथा मन में तत्काल प्रतीत करता है। विस्मय नहीं कि उसे केवल मात्र यही रूप दिखाई पड़े, इससे अधिक वह देख ही न पाये। काम की शक्ति मनुष्य की प्रेरिका शक्ति है। मनुष्य की मानसिक तथा आत्मिक सम्भावनाओं को इस काम शक्ति की मात्रा से हम एक

सीमा तक अवश्य माप सकते हैं। नपुंसक लोग दुनियाँ में कोई बड़ा काम नहीं कर पाते हैं। परन्तु काम शक्ति सम्पन्न ही वीर्य-वान् होते हैं। उनमें वेग होता है, क्रियाशीलता सम्भव है और तेज होता है। वीर्य का हमारे व्यक्तित्व पर भी बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। ऊर्ध्वगामिनी* काम शक्ति जिस भी क्षेत्र में प्रयुक्त होगी वहाँ उत्कृष्टता पैदा कर देगी†। जिस व्यक्ति में काम शक्ति का अभाव है उसमें वीर्य की उत्पत्ति ही न होगी। वह वीर्यवान कैसे हो पायगा‡ ?

जो कुछ यहां कहा गया है उससे इतना तो स्पष्ट है कि काम की शक्ति तिरस्कार के योग्य नहीं है। मानव के विकास में इस शक्ति का विशेष स्थान है। मैं तो समझता हूँ कि इस शक्ति का उत्तरोत्तर उद्गम और मानव सभ्यता का विकास साथ-साथ चलते आ रहे हैं। जन संख्या की वृद्धि उत्पादन शक्ति की वृद्धि पर निर्भर करती है। यही वास्तव में इस शक्ति का स्वरूप है।

---

* ऊपर चढ़ने वाली।

† लम्पटता और काम शक्ति का होना हमेशा साथ-साथ नहीं होते हैं। शक्ति का प्राबल्य व्यक्ति को लम्पट बना सकता है। उससे व्यक्ति सभी ऊँची सम्भावनाओं को खो देता है। परन्तु काम शक्ति का प्राबल्य संयम के होने पर व्यक्ति को वीर्यवान, तेजोवान् और प्रभाव शाली, व्यक्तित्व सम्पन्न कर देता है। काम शक्ति रहित व्यक्ति लम्पट भी नहीं होते परन्तु वह वीर्यवान भी नहीं होते हैं।

‡ कुण्डलिनी शक्ति का मूल केन्द्र काम शक्ति से बहुत घना सम्बन्ध रखती है। कुण्डलिनी शक्ति हमारी प्राण में निवास करने वाली आत्मा की मौलिक शक्ति है। अध्यात्म क्षेत्र में विकास का आधार यही है।

अध्यात्म विकास की दृष्टि से देखने पर भी, अनुभूति और निरीक्षण के आधार पर मुझे यही समझ में आता है कि काम शक्ति से हीन व्यक्ति अध्यात्म क्षेत्र में भी वेग से आगे नहीं बढ़ पाते हैं। वीर्यवान वेग से अग्रसर होते हैं। सन्तों के पूर्व चरित्रों में प्रायः उनकी कामुकता का परिचय मिलता है।

अतः यह समझ लेना चाहिए कि काम शक्ति महान शक्ति है—प्रभु की रचनात्मक शक्ति है। 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ' भूतों में धर्म के अनुकूल मैं काम हूँ। भगवान् स्वयं गीता के सातवें अध्याय में कहते हैं, इससे झेंपने की जरूरत नहीं, डरने की जरूरत नहीं। इसके ठीक उपयोग की आवश्यकता है। इस परिवृद्धि* काम की शक्ति का सदुपयोग जितना व्यक्ति को उठा सकता है, उतना ही इसका दुरुपयोग झमेले में भी डाल सकता है। इसका तिरस्कार अपना तिरस्कार है। इससे डरना अपने लिये गड्ढ़ा खोदना है।

जो कुछ मैंने ऊपर कहा है। इससे स्पष्ट होगा कि फ्रायड आदि के मत में एक गम्भीर सत्य छिपा है। परन्तु उसको ठीक तरीके से समझने की आवश्यकता है। काम शक्ति के स्थान पर यदि "आत्मा की शक्ति" का उपयोग किया जाय तो अधिक समुचित प्रतीत होंगे फ्रायड के मन्तव्य‡। कामशक्ति इसी आत्मा की शक्ति की एक प्रधान अभिव्यक्ति मात्र है।

दूसरी बात जो आज के मनोवैज्ञानिक बड़े जोर से कहते हैं वह यह है। जैसे भूख लगती है और अन्न से उसकी तृप्ति होती

---

* बढ़े हुये, जगे हुये। ‡ मत, विचार।

है, इसी प्रकार से काम की भी भूख होती है। इसको तृप्त करना भी उतना ही स्वाभाविक है जितना दूसरी भूख को। इस युक्ति में घोर भूल दिखाई पड़ती है। बीमार आदमी की भूख झूठी होती है। भूख की प्रतीति शारीरिक माँग की ओर इशारा नहीं करती बीमार आदमी में। भूख तो स्वस्थ व्यक्ति में शरीर की आवश्यकता का लक्षण है। उसकी तृप्ति तब तक शान्ति तथा सन्तोष देती है जब तक शरीर को और आवश्यकता न हो। काम के विषय में इनमें से कोई बात भी लागू नहीं होती। कामोपभोग से शरीर की कोई क्षति पूर्ति$ नहीं होती। प्रथम वास्तव में वह तो किसी प्रकार की क्षति का लक्षण ही नहीं। क्षति पूर्ति कैसे हो? दूसरा, कामोपभोग तृप्ति का क्षणिक कारण होता हुआ भी तत्काल ह्रास की प्रतीति का कारण होता है।

वास्तव में इस प्रकार की धारणा के पीछे उन लोगों की अनुभूति छिपी है जिनके शरीर में, नसों पर और दिमाग में भारीपन सा प्रतीत होने लगता है यदि वह कुछ समय तक कामोपभोग न करें। ऐसे लोगों को कामोपभोग से शान्ति मिलती है। शरीर आदि हलके हो जाते हैं। यह बात कई लोगों के लिये सोलह आने सत्य है। परन्तु इससे यह अनुमान लगाना कि काम की भूख होती है, जैसे दूसरी भूख होती है, यह गलत है।

शुक्र ग्रन्थियाँ शुक्र का निर्माण करती हैं। हमारी मानसिक तथा शारीरिक क्रियाओं का इन ग्रन्थियों पर प्रभाव पड़ता है। काम विचारों से लदा हुआ वातावरण इनकी क्रिया को तीव्र कर देता है। हस्त मैथुनादि क्रियाएं भी ऐसा ही प्रभाव रखती हैं।

$ कमी की पूर्ति होना।

लड़कों तथा लड़कियों में उचित अवस्था से पूर्व ही वीय तथा रज का निर्माण होने लगता है। युवा अवस्था में जितना अधिक कामोपभोग होता है उतना ही प्राणों का वेग शुक्र ग्रन्थियों की ओर बढ़ता है। अधिक मांग के नियम के अनुसार उतना ही अधिक शुक्र तथा रज का निर्माण भी होने लगता है। वना हुआ शुक्रादि शुक्राशय को भर डालता है। भरा हुआ शुक्राशय ही शारीरिक तथा मानसिक दबाव का कारण होता है। इसके साथ ही साथ काम सम्भोग में शक्ति का महान् व्यय होता है। उसके फल स्वरूप एक शैथिल्य शरीर में तथा ज्ञान तन्तु संस्थान में अनुभव होता है। स्वभाव हो जाने के कारण उस शैथिल्य के लिये भी माँग हो जाती है। इस प्रकार से कामोपभोग की माँग पैदा होती है, जिसको आज के मनोवैज्ञानिक भूल से स्वाभाविक भूख समझने लगे हैं।

एक शराबी की अथवा किसी मादक द्रव्य के अभ्यस्त† हुये व्यक्ति की हालत देखिएगा। ठीक समय पर उसे मांग होती है। मांग पूरी न हो तो वेचैनी होती है, दिल पर प्रभाव पड़ता प्रतीत होता है। क्या उसे भी भूख लग रही है? उसका शरीर और मन भी उस मादक द्रव्य की जिसके कारण उसमें उत्तेजना हो मांग करना सीख गया है। परन्तु वह सहज भूख नहीं। वह पैदा की गई है मादक द्रव्यों के द्वारा। ठीक इसी तरह से कामोपभोग की वह सहज भूख नहीं। अधिक और अनुचित कामोपभोग के द्वारा वह पैदा को गई है। इसको तृप्त करने की आवश्यकता नहीं †। इसके इलाज की ज़रूरत है।

---

† आदी

मनोवैज्ञानिकों की इस धारणा ने भोले-भाले लोगों पर बहुत बुरा प्रभाव डाला है। मनुष्य तो अपनी नीची वृत्तियों की तृप्ति के लिए अवलम्बन ढूंढ़ता है। जब आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का प्रमाण उसे मिल जाता है तो वह अपनी कामान्धता * के आगे सहर्ष समर्पण करना अपना कर्तव्य मानने लगता है। मैं ने एक ईसाई प्रचारक तक को इस भ्रममूलक $ युक्ति का शिकार-हुये ही नहीं, प्रचार करते हुये देखा है। उसके लिये वह बात न्यूटेस्टेमेन्ट ¶ की तरह प्रमाण रूप हो गई थी।

———
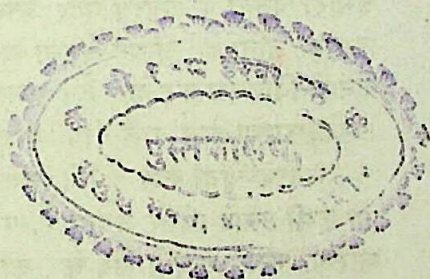
* काम के वेग में भले बुरे की पहिचान न रहना। $ भ्रम से उत्पन्न हुई। ¶ बाइबिल का नया संस्करण

मनोग्रन्थियाँ और संयम

आधुनिक समझी जाने वाली मनोवैज्ञानिक विचारधारा में मनोग्रन्थियों के लिये एक प्रधान स्थान है। हमारे संयम विषयक विचारों को भी मनोग्रन्थियों की धारणा ने प्रभावित किया है। हमें इस धारणा को समझना होगा और तत्सम्बन्धी सत्य को ठीक-ठीक समझने की चेष्टा करनी होगी।

मनोविश्लेषण* का तरीका मानसिक तथा कई शारीरिक रोगों की निवृत्ति में उपयोगी सिद्ध हो चुका है। मनोविश्लेषण से हमारी चेतना के अदृश्य गहरे स्तरों में पड़ी हुई मनोग्रन्थियों को उभाड़ा जाता है। जाग्रत चेतना युक्ति से, अपने जाग्रत ज्ञान से उनको विच्छिन्न कर देती है। फलतः ग्रन्थियां छूट जाती हैं और उसके कारण होने वाले दोष भी दूर हो जाते हैं।

मनोग्रन्थियाँ क्या हैं? वे शक्ति सम्पन्न $ प्रेरणायें--इच्छायें, जो कभी हमारे भीतर जगती हैं, परन्तु परिस्थिति की विवशता के कारण, लज्जा अथवा भय के कारण जिन्हें न तो हम पूरा ही कर पाते हैं और न ही जिनसे हम विवेक द्वारा छुटकारा ही पा सकते हैं, वे दब जाती हैं। वह शक्ति जिससे वे प्रेरणायें सम्पन्न थीं प्रकट होना चाहती थीं। अन्य उपायों के अभाव से वह अलक्षित ही हमारे व्यवहार को, बोल-चाल, सोच-विचार और भावों को प्रभावित करती रहती है। कभी कभी उसका प्रभाव

---

*Psycho-analysis

$ ताकतवर, वेगवती।

शरीर पर भी पड़ता है और शारीरिक रोग पैदा हो जाते हैं। फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि हमारी मनोग्रन्थियाँ प्रायः * काम सम्बन्धी दबावों से सम्बन्ध रखती हैं।

मनोग्रन्थियाँ और दबाव आजकल के पढ़े लिखे व्यक्तियों के लिये भूत से बन गये हैं। हर युग के भूत होते हैं। यह इस युग के भूत हैं। भूतों से लोग डरते हैं। लोग उसे समझने का यत्न नहीं करते, और न ही उसके प्रभाव से बचने का। ऐसी ही दशा मनोग्रन्थियों और दबावों के बारे में है। सामान्य पठित † व्यक्ति ने इन दो शब्दों को सुन रक्खा है—मनोग्रन्थि (Complex) और दबाव (Suppression, repression)

हमारा जो वर्तमान व्यक्तित्व है, हमारे भय, और हमारा गर्व, हमारी दीनता और हमारी इच्छायें सभी कुछ मिल मिला-कर उस व्यक्तित्व को बनाती हैं। इसी प्रकार से हमारी जो मनोग्रन्थियाँ और दबाव हैं वे भी हमारे व्यक्तित्व के निर्माण में उतने ही कारण हैं, जितनी हमारी दुर्बलतायें और बल हैं। एक दम से हम अपनी इन मनोग्रन्थियों से मुक्त होने की कल्पना कैसे कर सकते हैं?

हमारे व्यक्तित्व के विकासमें मनोग्रन्थियों का अपना स्थान है। विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ, विभिन्न प्रकार की विचार-धारायें जो उनसे जगती हैं, और उन अनुभूतियों से होने वाला चेतना का विकास स्वतः धीरे धीरे व्यक्ति की मनोग्रन्थियों को खोलता चला जाता है। विकास की एक बहुत ऊँची सीमा में

* अधिकतर। † थोड़ा पढ़ा हुआ।

ही जाकर व्यक्ति सभी प्रकार की मनोग्रन्थियों से, जो वास्तव में हमारे चैतन्य की सीमायें हैं, परे होता है। इससे पूर्व तो एक ओर कोई मनोग्रन्थि खुलती है, और दूसरी ओर नई पड़ती चली जाती है। वास्तव में इस प्रकार के खेल के बिना व्यक्ति उस ऊँची विकास स्थिति को लाभ कर सकता है, यह *संदेहास्पद है।‡

अतः मनोग्रन्थियों से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। अन्यथा यह भय भी एक सब से घोर मनोग्रन्थि बन जायगी हममें मनोग्रन्थियाँ हैं तो कोई विस्मय की बात नहीं। यदि हम कहीं पर अपने को छोटा समझते हैं या किसी दूसरी परिस्थिति में हम अपने को बड़ा समझते हैं तो यह भयभीत कर डालने की बात नहीं है। मानव विकास की कई अवस्थाओं में तो इस प्रकार की छुटपन और बड़प्पन की मनोग्रन्थियाँ आवश्यक ही हैं। इनका सदुपयोग व्यक्ति को आगे ले चलता है। हमारा रास्ता इन्हीं में से होकर है। हमें अपने भीतर की मनोग्रन्थियों पर दृष्टि रखने की चेष्टा करनी चाहिए। ज्यों ज्यों वह प्रकट हों इतने मात्र से, उनके कारण होने वाली विषमता शान्त होने लगेगी। और ज्यों ज्यों ठीक समय आयेगा भिन्न भिन्न मनोग्रन्थियाँ छूटती चली जायेंगी।

---

* जिसमें शक रहे।

‡व्यक्तित्व का विकास समाज में ही रह कर हो सकता है और समाज में रहना कई प्रकार की सीमाओं को लागू कर देता है। उन सीमाओं का तोड़ना न व्यक्ति के लिए ही हितकर होता है और न समाज के लिये ही।

मनोविश्लेषण तो बीमारों के इलाज का तरीका है। मानव-विकास में जो सहायता इन से मिल सकती है वह सीमित है। हम किसी अवस्था में चेतना की एक परत तक जा पायेंगे। यदि कर सकें तो भी सभी संस्कारों को जाग्रत कर देना भय से खाली न होगा। पाशविक योनियों के संस्कार भी तो हमारे भीतर ही हैं और यह सम्भव भी नहीं कि सभी संस्कार जागृत हो पायें। दूसरा, नई ग्रन्थियाँ नहीं पड़ेंगी इसका कोई प्रमाण ? वास्तव में मनोविश्लेषण को मानवविकास के लिये बरतना तो कलिका बलात्कार से खिलाने की चेष्टा करनी है और वह भी विफल जाग्रत हुई चेतना स्वयं ग्रन्थि-भेद करती चली जाती है, और व्यक्ति को पूर्णरूपेण स्वस्थ कर सकती है।

मनोग्रन्थियाँ पड़ती ही क्यों हैं ? योग-दर्शन इसका उत्तर देता है । *"अविद्यास्मितां राग-द्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः"। जब तक व्यक्ति में ये पाँच क्लेश हैं तब तक इनका आश्रय लेकर भीतर मनोग्रन्थियाँ पैदा होंगी। जब व्यक्ति इनसे मुक्त होता है तभी वह मनोग्रन्थियों की सम्भावना से मुक्त होता है। भागवती चेतना में $ प्रतिष्ठित होना ही इन क्लेशों से परे होने का और मनोग्रन्थियों से नितान्त छुट्टी पाने का उपाय है।

---

*अविद्या—भेद बुद्धि अज्ञान। अस्मिता—अहं जो अलग-अलग व्यक्तित्व की स्थापना करता है। राग—आसक्ति। द्वेष-जो व्यक्ति को दूर हटाने की प्रेरणा करता है। अभिनिवेश—अपनी अलग सत्ता को बनाये रखने की प्रवृत्ति।

$ जगा हुआ, दृढता से स्थित।

मनोग्रन्थियों के भूत से भागने वाले संयम मात्रको खतरे की दृष्टि से देखते हैं। संयम से तो दबाव होंगे और मनोग्रन्थियाँ पड़ जाँयगी और फिर न जाने व्यक्ति किन रोगों से ग्रस्त हो जाय। अतः संयम की चर्चा तो मूर्खों के लिये है। हम आज के पढ़े लिखे "वैज्ञानिक" लोग ऐसी बातें न सोचेंगे।* संयम के अभाव का अर्थ है अतिपाशविकता। जो मन में आये व्यक्ति करें, परिणाम भले ही इष्ट हो अथवा अनिष्ट। इस प्रकार की विचार धारा मनुष्य को मनुष्यत्व से विचार शीलता से और विवेक पूर्ण व्यवहार से वंचित कर देती है। मनुष्य काम क्रोध के लिये क्रीडास्थल-मात्र बन जाता है और फलतः दुःखी होता है।

विचार पूर्वक किया गया, व्यवहार का संयम किसी प्रकार के अनिष्ट का कारण नहीं होता। मनोग्रन्थि पड़ती है और दबाव होता है जब व्यक्ति विचार का उपयोग न करके भय और लज्जा के कारण अपने व्यवहार को बदलता है। समझदार व्यक्ति को यह जानना ही चाहिए कि बुराई करने योग्य नहीं है उससे व्यक्ति और समाज दोनों का अनिष्ट होता है। उससे बचना ही चाहिए। इस प्रकार का विचार पूर्वक किया गया संयम किसी भी दबाव अथवा मनोग्रन्थि का कारण न होगा, यह निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए। और जब तक व्यक्ति में विचार की योग्यता पैदा नहीं हुई, तब तक उसे बुराई से रोक रखना जरूरी है, उसके हित और समाज के हित में। यदि किसी प्रकार की मनोग्रन्थि अथवा दबाव ऐसी अवस्था में हो भी तो

* अधिक मात्रा में पशु का जीवन

भी यह करणीय * ही है। उसका उपचार हो सकता है, परन्तु यदि व्यक्ति अपने बुरे व्यवहार के द्वारा अपने को और समाज को दूर न हो सकने वाली हानि पहुँचा देगा, तो उसकी क्षति पूर्ति असम्भव होगी। यही बुद्धिमता की माँग है, यही व्यक्ति की स्वतंन्त्रता की सीमा है। संयम का पथ ही श्रेय का पथ है-- मानवता और उसके पार जाने का रास्ता है।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति। § श्री मद्भगवद् गीता अध्याय ८-११

*करने योग्य

§ जिसको पाना चाहते हुये (लोग) ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं।

संयम की आवश्यकता

मानव विकास की माँग

आखिर काम वासना के बारे में, काम प्रवृत्ति के विषय में संयम की क्या आवश्यकता है ? ब्रह्मचर्य की इतनी चर्चा कैसी ? क्या ज़रूरत है कि हम अपनी इन्द्रियों के सुख पेट भर न भोगें ? इस प्रकार के प्रश्न जीवन में एक बार जग उठते हैं। वह सन्तोष जनक उत्तर मांगते हैं।

व्यक्ति जो कुछ करता है उसका प्रभाव उस पर होता है। वह स्वयं उसके कारण बदलता है। उसका प्रभाव परिस्थिति पर भी होता है। समाज भी उसके कर्म के प्रभाव से वंचित नहीं रह पाता। हमें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, इस बात का निर्णय करने के लिये व्यक्ति के पास क्या कसौटी है ? बुद्धि की कसौटी ही बड़ी कसौटी है। शास्त्रादि की कसौटी भी बुद्धि के द्वारा ही तो बरती जाती है, और बुद्धि सदैव सन्तोष चाहती है। शास्त्र यदि ऐसा कहता है तो क्यों कहता है ? इस प्रश्न का उत्तर भी तो आखिर देना ही होगा।

कर्म का व्यक्ति पर क्या प्रभाव पड़ता है ? उसके फलस्वरूप व्यक्ति सुखी होता है, अथवा अच्छा होता है, वर्तमान में भविष्य में; अथवा बुरा और दुखी होता है। इस बात को हमें जानना है। उसके फल स्वरूप समाज, देश, राष्ट्र में क्या परिवर्तन होता है ? क्या वह हितकर है अथवा अहितकर ? इन्हीं दो बातों पर निर्णय होगा कि अमुक काम करणीय है, अथवा अकरणीय।

व्यक्ति तथा समाज का हित विशाल दृष्टि से देखने पर अलग अलग नहीं, एक ही है। सुखी समाज व्यक्ति के सुख का कारण है और सुखी व्यक्ति सुखी समाज का।

संयम की समस्या को भी हमें इसी कसौटी पर कसना । यदि संयम का प्रभाव हितकर है, तो वह ग्राह्य* है, यदि अहित—कर है तो सर्वथा अग्राह्य है।

पशु और मनुष्य में अन्तर क्या है? पशु भी खाते पीते आनन्द मनाते हैं और मनुष्य भी; पर इतना ही नहीं। मनुष्य सोचता है। उसमें प्रश्न उत्पन्न होते हैं। वह रास्ते रास्ते में विवेक करता है। 'मनन' मनुष्य को मनुष्य बनाता है। विचारशीलता ही मनुष्यत्व का अनोखापन है, और विचार के आधार पर अपने कर्म में परिवर्तन कर डालने की योग्यता, अपने को रोकने की योग्यता, अपने को काबू करने की सामर्थ्य-यह भी बहुत बड़ी बात है। पशु इस योग्य नहीं हैं। पशु भी बदलता है, परन्तु वह बदला जाता है, जैसे मशीन बदली जाती है। बदलने का संकल्प करके वह स्वयं अपने को नहीं बदलता; बाह्य प्रभाव ही सीधे उसको प्रभावित करते हैं।

हबशी इस मामले में पशु के बहुत समीप हैं। परन्तु जितना जितना मनुष्य सभ्य होता है उतना उतना वह अधिक सूक्ष्म, गम्भीर तथा दूरगामी विचार करने की समझ पाता जाता है। उसके साथ ही साथ वह अपने को उतना अधिक बदलने का सामर्थ्य भी पा जाता है। एक सभ्य व्यक्ति अपने आन्तरिक उद्वेगों को सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार रोक सकता है। असभ्य व्यक्ति को

---

* अपनाने के योग्य।

पहिले तो परिस्थितियों के औचित्य का बोध ही नहीं होता, और जब होता है तो वह अपने को संयम में असमर्थ पाता है। इसका अर्थ है कि मनुष्य में ज्ञान का सामर्थ्य पशुओं की अपेक्षा ऊँची कोटि का है और साथ ही संकल्प भी उनसे अधिक विकसित है। संकल्प शक्ति ही तो संयम का आधार होती है।

वैसे तो अपने क्षेत्रों में पशुओं का बोध बहुत है। बिल्ली की आँख अँधेरे में भी काम करती है। घोड़े की रास्ते की याद मनुष्य को विस्मित कर देती है। मधुमक्खी की कारीगरी मनुष्य को बहुत कुछ सिखा सकती है। परन्तु वह सभी योग्यतायें पशु-चैतन्य की सहज प्रवृत्तियाँ हैं। वह हैं इन्द्रियों की जन्म सिद्ध योग्यतायें। उनका उपयोग जान बूझ कर नहीं होता। वह तो प्रकृति ने उनकी जीवन यात्रा चलाने के लिये और उनकी रक्षा के लिये उनमें डाल रक्खी हैं। वह जाग्रत मन की उपज नहीं है। उनको विकास क्रम में पशु ने जाग्रत मन के द्वारा पाया नहीं है। इन्द्रियों के उपयोग के बारे में भी पशु मनुष्य से अधिक ठीक चलता है। खाने पीने में पशु अपनी आवश्यकता की सीमा का अतिक्रमण* जिह्वा के स्वाद के कारण नहीं करता। पालतू जानवर मनुष्य की संगति से विगड़ जाय तो दूसरी बात है। परन्तु मनुष्य तो रोज़ रोज़ अतिक्रमण करता है और बीमारी को निमन्त्रित करता है। काम प्रवृत्ति के क्षेत्र में भी पशु अपनी अवधि¶ का पालन करता है। ऋतु उसका नियम है। दक्षिण अफ्रीका के हबशी भी इस मामले में अभी पशुओं की नियमितता

* उल्लंघन, तोड़ना। ¶ मियाद, समय की सीमा।

रखते हैं। उनका भी एक मौसम आता है (वर्ष में एक बार) जब स्त्री-पुरुष-संयोग होता है। परन्तु सभ्य मनुष्य तो इस विषय में गया बीता है। उसका कोई नियम नहीं।

यह बात हमें मनुष्य के विकास की तीसरी बात पर ले आती है। मनुष्य सुख, दुःख, काम, प्रेम, सहानुभूति, द्वेष, राग आदि भावों को प्रतीति करने की योग्यता पशुओं की अपेक्षा कहीं अधिक रखता है। इन भावों को वह समझता भी अधिक है, और पैदा भी अधिक वेग में कर सकता है। फलतः वह इनके कारण सुखी और दुखी भी अधिक होता है। सुख उसके लिये पशु की अपेक्षा अधिक आकर्षक मूल्यवान है, अधिक कीमत का है। पशु के लिये सुख-दुःख, अपने कार्य को निर्णय करने मे उतनी बड़ी प्रेरणा नहीं है जितनी बड़ी प्रेरणा मनुष्य के लिये है।

वास्तव में मनुष्य तो अपने कर्म के लिये प्रेरणा ही सुख समझता है। वह इन्द्रियों का उपयोग सुख के लिये करने लगता है। मन को भी यथासम्भव सुख का साधन मान कर ही बरतना चाहता है, और बुद्धि को भी। यही उसके व्यवहार की विषमता और कई प्रकार के दुःखों का कारण हो जाता है। विचित्र है प्रकृति की लीला! सुख की खोज उसे दुःख के द्वार पर ले जाती है।

यह कैसे? जब खाना आनन्द के लिये खाया जाने लगता है, शारीरिक आवश्यकता के लिये नहीं, तो शरीर का और उसकी आवश्यकता का तिरस्कार होता है। व्यक्ति अपने स्वाद को ढूँढ़ता है, और वह शरीर की मांगों को सदैव पूरा नहीं करता। भोजन की मात्रा का निर्णय पेट नहीं, जिह्वा करने लगती है। खाने के समय का भी निर्णय वही करती है, पेट नहीं। नतीजा? रोग,

शारीरिक कष्ट। क्योंकर, ? इन्द्रिय के रसना* के दुरुपयोग के कारण, रसना को सुख का साधन बनाने के कारण व्यभिचार इसी को कहते हैं। यही बात जननेन्द्रियों के बारे में सत्य है। वह सन्तानोत्पत्ति के लिये है। उस काम क्रिया में सुख तो प्रकृति ने इस अत्यावश्यक कार्य के साथ पारितोषिक रूप लगा रक्खा है। परन्तु मनुष्य उस सुख को लक्ष्य मान कर काम सम्भोग में प्रवृत्त होता है। प्रकृति नियम का, सन्तानोत्पत्ति की मर्यादा का उल्लंघन करता है। अपनी शक्ति तथा रजोवीर्य को खोता है। अपनी शक्तियों का ह्रास करता है। मृत्यु को निमन्त्रित करता है।

मर्यादा-भंग और संयम तो साथ ही चलने वाले हैं। यदि इस प्रकार से सहज प्रवृत्तियों के अतिक्रमण की प्रवृत्ति मनुष्य में पशुओं की भाँति न हो, तो संयम का प्रश्न ही कैसा ? विचार-शीलता की भी आवश्यकता नहीं। क्योंकि मनुष्य सुख की खोज में इस प्रकार से उत्पथगामी¶ हो जाता है, इसीलिये तो उसमें यह योग्यता पनपती हैं कि वह अपने को काबू में कर सके और सीधे रास्ते पर ला सके।

यह विचित्र बात अवश्य है, परन्तु है यह विकास की ही मांग। यह व्यभिचार की योग्यता सुख के लिए उत्कट पिपासा, व्यक्ति की सोई हुई शक्तियों को जगा अवश्य देती है। इसी के कारण तो मनुष्य ने इतना पुरुषार्थ करना इतना सोचना और इतने नाते बनाने सीखे। भावों का वैभव भी तो इसी खोज की देन है। तिस पर संयम की योग्यता भी तो इसके कारण होने

* जीभ।

¶ उल्टे रास्ते पर चलने वाला।

वाले दुःख से ही पैदा होती है। यदि यह सुख के लिये दौड़ न हो तो उतना संघर्ष न हो और न ही संयम की भीतर से मांग हो।

यह तो विकास की वर्तमान स्थिति है, सामान्य मानव की। हम भीतर संघर्ष पाते हैं। सुख की लालसा इन्द्रियों को एक ओर ले जाती है, परन्तु उसी से होने वाला दुःख व्यक्ति को इन्द्रियों को रोकने के लिये बाधित * करता है। इस संघर्ष में विजय किसकी होनी चाहिये ? विकास की क्या मांग है ?

यह संघर्षमयी स्थिति स्थायी हो ही नहीं सकती। इस में से तो मनुष्य को निकलना ही है। बाह्य जगत् में इन्द्रियों, मन, तथा बुद्धि के द्वारा सुख की खोज भी हमेशा चलने वाली नहीं है। इस सुख लिये दुःख रूपी कीमत देनी पड़ती है। जब तक प्राप्त नहीं, तब तक पाने के लिये बेचैनी, प्राप्त हुआ तो तत्क्षण समाप्त और फिर से वही दौड़ जो पहिले थी। जिस सुख को बहुत बार भोगा जाता है, वह भी नीरस हो जाता है। उससे अधिक तीव्र इन्द्रिय, मन, बुद्धि के परिचालन की आवश्यकता पड़ती है। यह दौड़ अन्धी सी दौड़ है। इसका कहीं अन्त दीखता ही नहीं। श्री मद्भगवद् गीता में भगवान ने अर्जुन से कहा है--

येहि संस्पर्शजा भोगा दुःख योनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय,न तेषु रमते बुधः ॥‡

* मजबूर

‡ मन, बुद्धि और इन्द्रियों के प्राकृतिक सम्पर्क से होते जो पैदा भोग हैं, हैं दुःख की वे योनियाँ; आरम्भ वाले हैं सभी, ऐ कुन्ती सुत और उनका अन्त है इस तरह के तुच्छ भोगों में बुद्धिमान्, विवेकी पुरुष रमण नही करता। (गीता--५-२२)

बात भी सच है। भोग तभी तक व्यक्ति को तृप्त कर सकते हैं जब तक उनमें विचार नहीं जगता। विचार जगने पर तो उनमें व्यक्ति को क्लेश ही दीखता है। जो लोग उनके पीछे दौड़ते हैं वे पागल से ही दीखने लगते हैं।

दूसरी ओर हमने देखा था कि संयम की योग्यता संकल्प शक्ति के विकास पर निर्भर करती है और वह भी पशुत्व से ऊपर मनुष्यत्व की देन है। वह सभ्यता के साथ बढ़ती भी है। अतः विकासक्रम में बढ़ती हुई संकल्प की शक्ति ही विजयिनी हो यही स्वाभाविक है। जहा तक वह दुर्बल है वहां तक तो कई बातों में मनुष्य पशुओं से भी गया बीता है। यदि उस संकल्प की शक्ति के आधार पर व्यक्ति अपनी इन्द्रियों, मन और बुद्धि को अपने वश में लाकर उनका समुचित उपयोग करने लगे तो वह पशुत्व से सर्वया ऊँचा उठ जाता है। यही विकास के क्रम में आगामी सीढ़ी है। संयम मनुष्य के विकास की मांग है। यह बात हम ने एक तरह से समझने की चेष्टा की। अब हम इसे दूसरे दृष्टि कोणों से भी समझने की चेष्टा करेंगे।

काम की शक्ति जीवनी शक्ति का ही एक रूप है। व्यक्ति जितना सम्भोग करता है, उतनी ही यह शक्ति स्थूल शरीर में काम करती है। उससे वीर्य बनता है और सम्भोग सुख भोगा जाता है। यदि इसी शक्ति को स्थूल क्षेत्र से रोक दिया जाय, इसका उपयोग काम-सुख को प्राप्त करने के लिये न किया जाय तो यह शक्ति अपने सूक्ष्म रूपों में सूक्ष्म स्तरों पर अधिक क्रिया शील हो सकती है। ऐसा करने पर व्यक्ति ऊर्ध्व-रेतस्* कहलाता

* जिसका वीर्य नीचे न गिरकर ऊपर जाता हो।

है। मन को तेज, और मनप्रधान क्रियाओं में-ललित कला में साहित्य में और उच्च भावों के क्षेत्र में व्यक्ति की योगता बढ़ जाती है। वहा व्यक्ति की शक्ति अधिक प्रवाहित होने लगती है। इसी प्रकार मस्तिष्क की योग्यता भी बढ़ती है। शक्ति का अपव्यय* न होने के कारण मस्तिष्क में भी शक्ति अधिक प्रवाहित होती है। व्यक्ति मेधावी $ बनता है।

वास्तव में शास्त्र ब्रह्मचर्य को तप कहते हैं। ब्रह्मचर्य का नकारात्मक अर्थ है काम शक्ति का दुरुपयोग न करना, वीर्य का सुख के लिये क्षय न करना, क्या अविवाहित जीवन में और क्या विवाहित जीवन में। वीर्य के संयम से व्यक्ति में शक्ति का संचय होता है। यह जीवनी शक्ति ही व्यक्ति की शक्ति है जिसके आधार पर जीवन में व्यक्ति जो कुछ चाहे कर सकता है। बड़े-बड़े काम बड़ी शक्ति को चाहते हैं। हृदय के बल को व्यक्ति चाहता हो, मस्तिष्क के बल को चाहता हो, तो इस शक्ति का दुरुपयोग न करे, संचय करे संयम करे।

इतना ही नहीं। शारीरिक स्वस्थ्य पर इसका बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। शुक्रग्रन्थियाँ केवल उस वीर्य का ही निर्माण नहीं करतीं जिसका निष्क्रमण हो जाता है सम्भोग में, और जिससे सन्तानोत्पति सम्भव होती है। वही ग्रन्थियाँ एक और रस भी बनाती हैं जो भीतर रक्त प्रवाह में मिल जाता है और शरीर को, विशेष कर मस्तिष्क को पुष्ट करता है। कामसुख के लिये उपभोग करना, उस रस से अपने शरीर को वंचित करना

---

* फजूल खर्च। $ जिसकी धारणा शक्ति तीव्र हो, बुद्धिमान।

है। क्योंकि जितना सन्तानोत्त्पत्ति वाला वीर्य बनेगा उतना ही यह दूसरा रस कम बन पायेगा। संयम से रहना शरीर को रस-वान्, तेजोवान् करना है। व्यक्ति के स्वास्थ्य के साथ इस प्रकार से भी संयम की समस्या गहरा सम्बन्ध रखती है।

एक बात और भी। काम सम्भोग में वीर्य ही नष्ट नहीं होता। जो शक्ति ज्ञान तन्तुओं में प्रकट होती है, उसका भी महान व्यय होता है। मानों सारा ज्ञान तन्तु संस्थान हिल जाता है। जननेन्द्रिय हमारे ज्ञानतन्तुओं के विशेष केन्द्र हैं और सारे संस्थान से सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रकार का शक्ति-क्षय वीर्य के व्यय से कहीं अधिक कीमती है। यह व्यक्ति के मस्तिष्क के केन्द्रों को तथा हृदय को भी हिला देता है। काम-सम्भोग खेल नहीं है। यह शारीरिक दृष्टि से भी बहुत ही क़ीमती सौदा है। छोटे जन्तुओं में तो यह जान ले जाने वाला तक होता है। एक जन्तु तो वास्तव में ऐसा है कि वह वीर्य दान के धक्के को सह नहीं सकता। उसका प्राणान्त हो जाता है। उसने अपनी सन्तति का मुख भी आज तक नहीं *देखा।

यदि व्यक्ति शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक योग्यताओं को बढ़ाना चाहता है तो भोग का पथ उसके लिये नहीं है। यदि व्यक्ति विकास चाहता है, तो संयम आवश्यक है। और संयम का भी अपना एक सुख होता है। शक्ति संचय से जो स्थिरता, जो शान्ति, जो आन्तरिक सौख्य व्यक्ति को उपलब्ध $ होता है, वह अनुभव की चीज़ है।

---

*देखिये, "Miracle of life" (Statesman Home Library Series) $ प्राप्त।

व्यक्ति का शरीर एक शक्ति-उत्पादक यन्त्र-डायनेमो (Dynamo) सा होता है। व्यक्ति कितनी शक्ति को अपने में संचित किये है, इस पर ही उसका प्रभाव निर्भर करता है। अतः संयम व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रभाव शाली बनाने में बहुत सहायक होता है।

सुख की लालसा मानव मन की गहरी लालसा है, इसमें सन्देह नहीं। संयम इस लालसा पर आपाततः* आघात¶ करता हुआ प्रतीत होता है। वस्तुतः यह ऐसा नहीं है। एक ओर संयम का सुख और दूसरी ओर कामोपभोग का सुख। यदि तुलना की जाय तो संयम का सुख ही ऊँचा ठहरेगा। वह अधिक स्थायी है। वह शरीर तथा मन बुद्धि के विकास में तथा आत्मा के बल को प्रकट करने में सहायक भी है। तिस पर इस विषय में प्रमाण तो वही व्यक्ति हैं जिन्होंने इन दोनों सुखों का आस्वादन$ किया है। उन्हीं व्यक्तियों का कथन है कि भोगसुख से संयम का सुख अधिक अच्छा है, अधिक वांच्छनीय है। उस सुख को पाने के लिये प्रयत्न आवश्यक है। सहज में सफलता नहीं होती पर उसे पाकर उससे च्युत होने वाले व्यक्ति पछताते हुये ही देखे गये हैं। यदि कामसुख में लिप्त व्यक्ति उस ऊँचे सुख को अनुभव न कर पायें-उसका अनुमान भी न लगा पायें तो यह विस्मयकर नहीं, स्वाभाविक ही है।

परन्तु हमें तो इतने में भी सन्तुष्ट होना नहीं सीखना है। इसमें सन्देह नहीं कि काम-प्रवृत्ति को वश में कर लेना इस प्रकार

---

*अचानक। ¶ चोट $चखना

से व्यक्ति के लिये आवश्यक तथा हितकर है। परन्तु हमारा लक्ष्य तो धनात्मक और इससे बहुत आगे तक जाना है।

पशु कामसम्भोग में नियम के अनुसार चलता है। उसमें काम के मनोविकारो की सम्भावना की हम कल्पना नहीं कर पाते। परन्तु मनुष्य संयमी भी हो जाय तो भी मनोविकारों से छुट्टी पा ही जायगा, यह निश्चित नहीं। उसके मन में तो संस्कार ऐसे गड़े हैं कि कामसम्भोग प्रायः उस आन्तरिक संघर्ष को थोड़ी अवधि के लिये शान्त करता प्रतीत होती है। इसी प्रकार से विचारों के क्षेत्र में भी काम समाया है। केवल मात्र शारीरिक सम्भोग न करने से तो व्यक्ति इस क्षेत्र में आदर्श को प्राप्त नहीं कर लेता।

अब हमें मानव जीवन के आदर्श के बारे में एक ऊँची उड़ान लेनी होगी। देखना होगा कि उस आदर्श की हम पर क्या मांग है। उसको पाने के लिये हमारे में कामप्रवृत्ति के विषय में क्या परिवर्त्तनों की आवश्यकता है? हमें उस भागवतचैतन्य* को लाभ करना है जिसे पाकर और कुछ पाने लायक नहीं रहता। 'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः* हमें तो उस आन्तरिक अद्वैत बुद्धि को लाभ करना है जिसमें भेद की, रागद्वेष की, वैषम्य की सम्भावना तक नहीं। 'वासुदेवः सर्वमिति'*जिस

---

*परमेश्वरीय ज्ञान। *जिसे पाकर उससे अधिक और कोई लाभ नहीं माना जाता भागवत-गीता ६.२२

*वासुदेव ही सब कुछ है। श्री भागवतगीता ७.१९.

विकास स्थिति का सहज बोध है। हमें तो परम-प्रभु में निवास लाभ करना हैं, और उसे अपने में सतत रमता हुआ पाना है। "येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि"*। हमको तो उसमें पूर्ण रूपेण प्रवेश पा जाना है, उसका ही हो जाना है। इसी में ही आध्यात्मिक लगन की परिशान्ति * सम्भव हैं। इसी में ही स्थिर शान्ति 'प्राप्ति हो सकती है। इस आन्तरिक ज्ञान-दृष्टि को, इस आन्तरिक साम्य को, इस पराभक्ति को, इस नैषकर्म्य को बाहिर से थोड़े ही पाया जाता है। यह तो अपने को विकसित करने से, भीतर निहित परम चैतन्य की कणिका को पूरी तरह से चमका देने से–तद्रूप * हो जाने से ही सम्भव है। इसके लिये तो 'अहम्' की बलि देनी होगी, इसके लिये मन का पूर्ण रूपेण शोधन तथा दिव्यीकरण आवश्यक है और बुद्धि का भी।

क्या काम वासना और यह आदर्श साथ-साथ चल सकते हैं? कदापि नहीं। जैसे रात्रि दिवस का परस्पर संग असम्भव है, ऐसे ही कामवासना का और इस महत्तम लक्ष्य का। काम सुख के लिये चेष्टा तो दूर की बात है जब तक काम सूक्ष्म रूप से भी हृदय में निवास करता है अथवा बुद्धि में भी टिका है, यह लक्ष्य दूरी पर है।

---

*पूर्ति सीमा

*जिससे सब भूतों को आत्मा में और मुझमें देखेगा। भागवतगीता ४.३५.

* उसी रूप का

काम तो स्त्री-पुरुष भेद पर टिका है । इसका स्वरूप ही वैषम्य है । बुद्धि पर यह पर्दा डालता है, मन में यह आंधी रूप होता है । व्यक्ति के चैतन्य को विषमता के क्षेत्र में ले आता है। क्रोध का यह सततसंगी* है। आत्मतृप्ति इसके रहते असम्भव है। आपे से बाहिर कर देना इसका स्वरूप ही है ।

यह प्राण से परे हृदय के भावों के रूप में निवास करता है। मनोविकार इसकी वहां पर उपस्थिति का चिन्ह है। आन्तरिक अशान्ति उनके साथ चलती है। कामविकार से विकृत मन दूषित हुआ सत्य को नहीं जान सकता, और न ही पा सकता है आन्तरिक समता को जिसमें शान्ति है। काम का प्रेम सीमित है और उसका साथी है द्वेष। विशुद्ध प्रेम का प्रारम्भ होता है जहाँ और जितनी कामवासना शान्त होती है। विशुद्ध प्रेम निःसीम होता है । वह परमआनन्द है; वह जीवन दायक है; वह भेदों की भीतों को गिरा देता है। काम तो उसकी धुन्धली परछाँई है मानो कीचड़ में। काम के रहते वह विशुद्ध प्रेम और वह अद्वैत का आनन्द असम्भव है। अतः हमें तो मन की उस विशुद्ध अवस्था को पाना होगा, जिसमें काम स्पन्दन की शरीर में क्या मन में भी सम्भावना न रहे। स्त्री पुरुष दोनों हमारे लिये सम हो जायें।

बौद्धिक क्षेत्र में काम विचारों को दूषित करता है। रँग देता है अपने रंग से । बुद्धि स्त्री-पुरुष भेद को लेकर सोचती है। उसी भेद के आधार पर संसार को विभाजित कर देती है। हमें बुद्धि को भी काम-संस्कार से ऐसा साफ करना होगा, इससे

---

* काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः। श्री भगवदगीता ३:३७

ऊँचा करना होगा कि काम सम्बन्धी विचारों के लिये सम्भावना ही न रह पाये।

ऐसी अवस्था में पतन की सम्भावना ही नहीं। जैसे नन्हा बालक निर्मल मन तथा निर्मल तन वाला होता है, ऐसे ही प्रभु के प्यारे की अवस्था होती है। ऐसी अवस्था में ही प्रभु के सतत्-रमण की प्रतीति सम्भव है। व्यक्ति की आँखें खुल जाती हैं। व्यक्ति सिवाय उसके किसी का नहीं रहता और उसके नाते सभी का हो जाता है।

यही अवस्था वास्तव में ब्रह्मचर्य की आदर्श स्थिति है। व्यक्ति 'ब्रह्म' में निवास करता है तब यह स्थिति है जिसकी ओर मानव समाज—हम सभी खिंचे चले जा रहे हैं। यह विकास की ऊँची *श्रेणी है जिस तक हमें पहुँचना है। जो इस लक्ष्य को समझ लेते हैं, पुरुषार्थ करते हैं और करवाते हैं दूसरों से उस तक पहुँचने का। वह धन्य हैं। वह भगवान का ही कृत्य करते हैं। वह आने वाले प्रभु के अग्रणी हैं। वह उस युग का आवाहन कर रहे हैं। वह इस महान् भागवत‡ यज्ञ में योग दे रहे हैं। वह सर्वभूत हित के लिये सचेष्ठ हैं। यह है उस मानव विकास की मांग। हमारे मनुष्यत्व की परम *काष्टा! हमें उधर ही चलना है।

---

* सीढी। ‡ भगवान का।

साधना का पथ

कामवृत्ति पर सामाजिक दंड लगा है। इसके साथ लज्जा का आवरण है। लोक लाज का भय है। सीमाओं के बाहिर कामोपभोग पाप है। यह भय भी है। इस पर समाज में कामवृत्ति को भड़काने के लिये अनेक साधन हैं, और उनकी भारत में तो दिन प्रति दिन वृद्धि होती चली जा रही है। पाश्चात्य ढंग का रहन सहन, आमोद प्रमोद के तरीके, तस्वीरें और साहित्य सभी कामुकता* के प्रोत्साहक हैं।

काम की शक्ति जग जाती है जल्दी ही। परन्तु यह जगी हुई शक्ति कहीं पर भय के कारण, कहीं लोक लाज के कारण और कहीं पर परिस्थियों के अनौचित्य† के कारण दबती चली जाती है। इसके दुष्परिणाम होते हैं। व्यक्ति में मानसिक तथा शारीरिक रोग पनपते हैं। व्यक्ति की सौम्यता चली जाती है। अधखिले फूल सा उत्साह हीन दबा दबा हुआ व्यक्ति समाज में अपने जीवन को अभिशाप१ समझता हुआ जीता है। थकलाना, बेचैनी, अनिद्रा से लेकर व्यक्ति त्वविच्छेद तक सारी बातें कामशक्ति

---

* काम की इच्छा। † उचित या उपयुक्त स्थिति का अभाव।
१ बुरा शाप, बोझा।

के दमन से सम्भव हैं। प्रेम का अभाव तो प्रायः हो ही जाता है *

सभी बातों का विचार करके, मुझे तो यही समझ में आता है कि काम शक्ति के दमन से, (इस प्रकार दब जाने अथवा दबा डालने से) तो कामोपभोग में अपने को खो देना ही श्रेयस्कर है। उसमें शरीर का ह्रास है, मन का भी है, परन्तु वह क्षीण होता हुआ शरीर तथा मन संयम की मांग कर भोग की एक सीमा तो ले ही आयेंगे। इस प्रकार का दमन तो लोगों के जीवन को ही दूभर कर देगा ऐसा व्यक्ति समाज अथवा राष्ट्र को,—दुनिया को कुछ दे नहीं सकता, न सिर ऊँचा करके खड़ा हो सकता है।

मैं यह पहिले कह आया हूँ कि हमें इस शक्ति को दबाना नहीं है! इसका उपयोग करना है। यदि हम इसको सुख का साधन न बना कर इसको बुद्धि तथा उससे भी परे के क्षेत्रों में बरत

---

* आज काम दमन जन्य विकारों के आधिक्य का कारण हैं असामयिक तथा अनुचित वेग से काम शक्ति का उत्थान। ऐसा होने पर दमन स्वाभाविक हो जाता है। संयम की योग्यता के उदय होने के पूर्व, (बुद्धि के प्रकट होने से पहिले ही) यदि बालक तथा बलिकाओं में काम वेग की प्रतीति होने लगे तो केवलमात्र दमन ही हो सकता है। वैसी अवस्था में शारीरिक कामोपभोग भी हानिकर ही होगा, शरीर परिपाक के न होने से। ऐसे लोगों में प्रजनन की शक्ति का आभाव, और दूसरे शारीरिक तथा मानसिक विकार भी पैदा हो सकते हैं। इसी प्रकार से असामयिक, कामोदय हस्तमैथुन की प्रवृत्ति को पैदा कर देता है। उसके होने पर मानसिक क्षेत्र में दबाव होने रुक जाते हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता।

सकें तो न केवल हम इसके फाँस से परे हो जायेंगे, हम विकास क्रम में तीव्रता से आगे भी बढ़ पायेंगे।

अतः पहिली बात जो साधक को करनी होगी वह है आदर्श को भली भाँति समझ लेना। वह क्या चाहता है और क्यों चाहता है ? जितना स्पष्ट यह आदर्श उसके सामने होगा, जितना यह आदर्श उसको आकृष्ट करेगा और जितना वह उसकी प्राप्ति के लिये तत्पर होगा, उतना ही उसका मार्ग उसके लिये सुगम हो जायगा।

उसे समझ लेना चाहिये कि संयम का रास्ता काम शक्ति को दबाने का रास्ता नहीं है। वह कामशक्ति के ऊर्ध्व गमन का रास्ता है। दबावों से पूर्ण रूपेण छूटने का रास्ता है।

दबाव का लक्षण है काम विकार की प्रतीति का अभाव जागृत अवस्था में। गहरा दबाव तो नींद में भी सहज में प्रकट नहीं होता। और दबाव होता है जब हम काम विकारों से डरते हैं, उनके अपने भीतर पैदा होने से आत्म ग्लानि से अपने को कोसने लगते हैं, अपने को पतित, पापी, पामर समझने लगते हैं। वाह्य भय भी दबाव का कारण हो सकते हैं।

इसलिये साधक को यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि काम मनुष्यमात्र में सहज है, आज की विकास की स्थिति में। यदि यह उद्वेग हममें पैदा होता है तो कोई विस्मय की कोई अनोखी बात नहीं है। आती हुई जवानी के साथ हृदय में कामविचार तथा काम प्रभाव आँधियों की तरह उमड़ने लगते हैं। यह किसी रोग का लक्षण नहीं है। किसी पाप का भी

चिन्ह नहीं है। इस बात के परिचायक* हैं कि काम शक्ति अब प्रकट हो रही है जैसे कि सामान्यता इस यौवन की आवस्था में प्रकट हो जानी चाहिए। इस शक्ति को हमें रूपान्तरित † करना है। यह शक्ति एक सम्भावना है यदि हम इसे ठीक दिशा प्रदान कर सकें तो हम धन्य हो जायँगे। और हमारा राष्ट्र तथा समाज भी धन्य होगा हमारी रचनात्मक सेवाओं के कारण। यदि इस प्रकार की धनात्मक (पाजिटिव) मनोवृत्ति बना ली जाती है, यदि भय तथा आत्मग्लानि को किसी भी परिस्थिति में पनपने नहीं दिया जाता हं, तो मैं आपको विश्वास दिला सकता हूँ कि आप को काम शक्ति के दबाव के भय से भयभीत होने की कदापि आवश्यकता नहीं। आप से दबाव न हो पायेंगे।

यह भी जानकारी आवश्यक होगी कि काम की शक्ति केवल मात्र प्राण के क्षेत्र की ही शक्ति नहीं है। जब यह युवावस्था में पहिले-पहल जगती है तो प्राण में ही सबसे अधिक उद्वेग पैदा करती है। भीतर व्याकुलता होती है, सम्भोग के लिये। परन्तु यह हृदय के क्षेत्र में भी काम करती है। प्राण और हृदय का सम्बन्ध बड़ा घना है। व्यक्ति में एक भावुकता का उदय होना, पर लिङ्ग अथवा अपर लिङ्ग के व्यक्तियों के प्रति काम भावों का उदय भी स्वाभाविक है। इसी प्रकार से बुद्धि में भी काम सम्बन्धी विचारमाला का चलते जाना होता है। बुद्धि भी इस कामशक्ति का क्षेत्र है।

किसी व्यक्ति में विशेष कर के सुदृढ़ शरीर के खूब खाने और व्यायाम करने वाले व्यक्तियों में जो ज़रा स्थूलता रखते

---

* चिन्ह, सूचक। † रुपको बदलना।

हैं (अपने भाव और बुद्धि के जगत् में) काम शक्ति का वेग प्राण में बहुत होता है। उसके कारण परेशानी होती है। पशु की तरह व्यक्ति उत्तप्त हो जाते हैं। परन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जिनमें कामशक्ति का केन्द्र प्राण न रह कर मन होता है। काम-प्रेम उमड़ता है, वाणी में, लेखनी में और स्वप्न जगत् में। तीसरा प्रकार वह है, जिसमें प्राण तथा मन में काम का वेग प्रधान न हो कर केवल मात्र संकल्प विकल्प में ही प्रकट होता है। संयम की समस्या सबसे अधिक विकट और हल होने पर सबसे अधिक गुणवती पहिली प्रकार के लोगों के लिये होती है।

क्या प्राण में क्या मन में, और क्या बुद्धि में काम काम ही है। वही शक्ति क्रियाशील है। हम इसका उर्ध्वगमन चाहते हैं, रूपान्तर चाहते हैं।

और यह रूपान्तर होगा जब प्राण का रूपान्तर हो जायगा। जब मन और बुद्धि का भी रूपान्तर हो जायगा। जब स्थूल शरीर के अणुओं तक का रूपान्तर हो जायगा। इन सभी को ऐसा होना है, कि काम के लिये वह क्षेत्र न रहें, इतने विशुद्ध हो जायें कि काम की स्थूल तरंग उनमें परिस्पन्दित ही न हो सके। तभी व्यक्ति काम की सम्भावना से, इसके प्रभाव से पूर्णरूपेण ऊपर समझा जा सकता है।

यह कोई क्षणिक कार्य नहीं है। वास्तव में हमें विकास की ऊँची श्रेणी को लाभ करना होगा। ऊँची चेतना को लाभ ही नहीं करना होगा, उसको अपने बुद्धि-मन तथा प्राण में बसा कर इनको उसके अनुकूल करने का उसे अवसर देना होगा।

यह साधना जीवन भर की, सम्भव है एक से अधिक जीवनों की, साधना है। परन्तु यदि यह करणीय है तो करणीय ही है। इसमें जल्दी और देरी की गणना क्या? आधी होने से काम न चलेगा। हमें गीता में भगवान का कथन स्मरण रखना होगा। और उस नव निर्माण के धनात्मक लक्ष्य की ओर कदम बढ़ाते चले जाना होगा।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रस वर्ज रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

"आहार (इन्द्रिय-उपभोग) से दूर रहने वाले (देहधारी) व्यक्ति के लिये विषय निवृत्त हो जाते हैं (विषयों का आकर्षण मन्द पड़ जाता है) परन्तु रस (विषयों में आनन्द की प्रतीत आकर्षण उस परम (पुरुष) को देख कर हो जाता है।"

परम पुरुष को लाभ करना ही अन्तिम समाधान है, आत्म-संयम की सिद्धि है, पराकाष्ठा है।

———

व्यवहार की बातें

(१)

हमारी मनोवृत्ति

संयम को साधना के प्रति हमारी मनोवृत्ति क्या है इस पर निर्भर करेगा कि हमारा पथ *कंटकाकीर्ण होने जा रहा है अथवा सुगम। यदि हम कामवृत्ति के संयम मात्र को ही लक्ष्य बनाकर चले हैं और इस बात के लिये उत्सुक हैं कि इस प्रवृत्ति पर हम किसी प्रकार से विजय प्राप्त कर ले तो समझ लेना चाहिये कि हम कठिनाई की ओर चले जा रहे हैं। हमारी आकुलता-उतावला पन ही हमारी सफलता के रास्ते में आकर खड़ा हो जायगा।

काम की प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त करने का अर्थ है इस शक्ति को रूपान्तरित कर देना, प्राणादि के क्षेत्र से ऊपर ले जाना, अध्यात्म क्षेत्र में स्थापित कर देना। यह काम वास्तव में सारे व्यक्तित्व के रूपान्तर से ही सम्भव है। यह नहीं हो सकता कि आपकी बाकी प्रवृत्तियाँ रागद्वेषादि, क्रोध-लाभ आदि प्रवृतियाँ वैसी की वैसी बनी रहें और आप काम से ऊपर उठ जायँ। यदि किन्ही *कृत्रिम उपायों द्वारा यह सम्भव है तो वास्तव में ऐसा होने में काम की परिशान्ति नहीं, दमन है और उससे व्यक्तित्व की सौम्यता बिगड़ जाती है। जैसे बढ़ता हुआ

* कांटों से भरा हुआ ! * बनावटी

पेड़ अपनी बाढ़ों से ऊपर समूचा, शाखाओं, तने सहित उठ जाता है जैसे बढ़ता हुआ बालक अंग प्रत्यंग में अपने सभी कपड़ों की सीमाओं से पार हो जाता है ऐसे ही विकसित होते हुए व्यक्ति को क्रमशः सभी निम्न प्रवृत्तियों से पार होते चला जाना चाहिये यदि वास्तव में विकास हो रहा है तो जो लोग ऐसा सोचते हैं कि हम काम को पहिले जीत लें, फिर क्रोध को जीतेंगे और बाद में लोलुपता को, उन्होंने इन वृत्तियों का हमारे जीवन में क्या स्थान है, अभी यह समझा ही नहीं।

काम की समस्या कोई अलग समस्या नहीं है। व्यक्तित्व के विकास की समस्या का ही एक अंग है। हमारी चेतना विकसित होती हुई यदि एक सीमा के पार जाती है तो काम स्वयं ही शान्त हो जाता है। 'काम' काम न रहकर विशुद्ध दिव्य प्रेम बन जाता है। अतः केवल मात्र काम को जीतने पर उतारू न होना चाहिए।

वास्तविकता तो यह है कि व्यक्ति जब इस प्रकार के संकुचित लक्ष्य को लेकर चलता है। तो मानो वह काम की वृत्ति को चुनौती देता है। उस पर चोट करने के लिये अपने पक्ष से—जीवन के सामान्य मार्ग से अलग भी जाता है। दबावों की सम्भावना भी होती है, क्यों कि जैसे शत्रु-भय होता है, वैसे ही व्यक्ति को काम का भी भय होता है। उसके परिणाम स्वरूप या तो व्यक्ति विजयी होता है या परास्त होता है। विजयी भी पराजय होती है क्योंकि यह काम का शोधन नहीं वास्तव में दमन हुआ है। इसका परिणाम जन्मजन्मान्तर तक रह सकता है, और व्यक्ति के विकास की गति मंद हो जानी

सम्भव है यदि परास्त होता है तो निराश होता है। उस निराशा से उत्साह को, प्रयत्न और भावी प्रगति को खो देता है। यह रास्ता गलत है।

पहिला काम तो जीवन में काम-वृत्ति के ठीक ठीक स्थान को पहिचानना है और इसको समुचित आदर देना है; शत्रुत्व तथा मित्रता दोनों भावों से परे हो जाता है। "काम की प्रवृत्ति मुझ में है, और विकास के क्रम में इसका होना स्वभाविक है। प्रेरणा से जीवन की गति में अतिशय है; भाव और विचारों में वेग उत्पन्न हुआ है। यही उसका काम है। मुझे आगे चलना है, प्रभु की समीपता को पाना है और उसका होना है, पवित्र होना है। उसका यन्त्र बनना है। मेरे आगामी जीवन में इस प्रवृत्ति के लिये स्थान नहीं है। इसका शोधन होना चाहिए। मुझे इस से ऊपर हो जाना हैं। इसका पूर्ण रूपेण रूपान्तर हो जाना चाहिए। यह प्रवृति मेरी सहायक रही है। अब मुझे इसकी आवश्यकता नहीं है।" इस प्रकार की स्पष्ट गहरी समझ संयम-पथ की पहिली आवश्यकता है। इसके बिना आगे कदम बढ़ाना खतरे से खाली नहीं।

आखिर संयम हम संयम के लिये नहीं करना है। प्रभु के लिये करना है, उसकी चेतना का लाभ करने के लिये करना है। संयम के लिये संयम भी बन्धन का कारण हो सकता है उसमें भी सात्विक आसक्ति सुख के कारण पैदा हो जाती है और व्यक्ति बँधने लगता है। संयम के लिये संयम संकुचित आदर्श है। *सकांगित का प्रधान कारण भी बन जाता है। संयम तो सहज

---

* अधूरापन

स्वाभाविक होगा ही हमारे लिए ज्यों ज्यों हम प्रभु के समीप होंगे। अन चाहे भी यह जीवन में घटित होने लगेगा। इसके होने के कारण तब गव भी न रह पायेगा।

हाथी के पाँव में सब का पाँव! प्रभु सामीप्य*में संयम स्वतः ही है। इस विशाल प्रभु-प्राप्ति के लक्ष्य को लेकर चलना ही समुचित बात है। इससे मनोवृत्ति घनात्मक हो जाती है। "काम विजय" तो नकारात्मक मनोवृत्ति को पैदा कर देती है। उससे प्रतिक्रिया की सम्भावना बनी रहती है, निराश का द्वार भी खुला रहता है। हम उस प्रभु के समीप होंगे तो संयम स्वतः ही सिद्ध हो जायेगा।

अतः कुछ भी प्रयत्न विशेष काम विजय के लक्ष्य को सामने रखकर न करने चाहिए। उनसे जीवन में विषमता आयेगी ही। जो कुछ भी किया जाय वह उस महान् लक्ष्य को सामने रखकर।

इतना तो स्पष्ट हो ही चुका होगा कि संयम की साधना एक दिन का काम नहीं, यह व्यक्तित्व का पूर्ण रूपेण रूपान्तर है। अतः पहिली अवस्था में व्यक्ति में पुराने संस्कार और पुरानी प्रवृत्तियाँ जगेंगी; शरीर तक में भी वह आँधी की तरह उठ जाया करेंगी और व्यक्ति को बलात्कार से अवांच्छित पथ पर ले जायँगी। ऐसा होना स्वभाविक ही है। संस्कार का बल एक दम से क्षीण नहीं होता है। क्षीण धीरे धीरे होता है; दबाया एक दम जाता है। क्योंकि हम उसको दबाना

---

* निकटता।

नहीं चाहते अतः उसका वेग हमें सहन करना होगा। उस "विफलता" को विफलता न समझ कर पुराने संस्कारों पर एक चोट मात्र समझनी चाहिए, जिसके फल-स्वरूप व्यक्ति उस संस्कार के प्रभाव से थोड़ा सा ऊपर उठ जाता है। परन्तु यह तभी जब हमारा लक्ष्य हमारे सामने साफ़ साफ़ बना रहे। लक्ष्य के आँखों से ओझल होने का मतलब है कि हम नूतन संस्कारों का संचय कर रहे हैं। परन्तु आत्मग्लानि के लिये तो कहीं भी स्थान नहीं।

धीरे-धीरे शारीरिक क्षेत्र की विफलता का लोप हो जायेगा। परन्तु प्राण तथा भाव के क्षेत्रों में स्पन्दन प्रबल बने रहेंगे। जैसे-शारीरिक क्रियाओं पर हमारा अधिकार स्थापित हो गया, वैसे ही, प्राण तथा मन के संस्कार भी क्षीण होंगे और उन पर भी हमारा अधिकार स्थापित हो जायेगा।

सम्भवतः यह समझा जा रहा होगा कि कामप्रवृत्ति को शरीर में न प्रकट होने देना ही सब से मुश्किल काम है, परन्तु यह तो पहिली घाटी है। धैर्य से यह सुगम हो जाती है। आत्म-विश्वास से पूर्ण संकल्प, आदर्श पर प्रबल तथा स्पष्ट दृष्टि, और जागरूकता यह सभी मिल कर समय पाकर इस शारीरिक संयम को अवश्य पैदा कर देंगे। विफलता पर ध्यान देकर हम आत्म विश्वास को खो देते हैं और आगामी सफलता का द्वार बंद कर देते हैं। इससे बचना नितान्त आवश्यक है। विफलता आने वाली सफलता की संदेशवाहक* मात्र है। अनन्त धैर्य हमारा पाथेय$ रहना चाहिए।

---

* सूचना देनेवाली। $ रास्ते का कलेवा-सहारा।

कामशक्ति के प्रवाह-केन्द्र को बन्द करना ही हमारा लक्ष्य नहीं है। हम तो नवनिर्माण को चाहते हैं। वास्तव में नव निर्माण के लिये, नूतन दैवी चैतन्य और उसकी स्थापना के लिये हम इस प्रवाह को लौटा देना चाहते हैं। अतः यह तो उस महान काय का नगण्य† परन्तु आवश्यक अंश है।

इस प्रकार की धनात्मक मनोवृत्ति से सम्पन्न हो पथिक को इस पथ पर आरूढ़ होजाना है।

---

† तुच्छ, छोटा।

(२)

शक्ति उन्नाह (Sublimation)

प्रत्येक व्यक्ति में किसी समय में शक्ति की एक सीमित मात्रा ही प्रकट होती है। उसी से शरीर चलता है, वह अपनी आन्तरिक तथा वाह्यक्रियाओं को करता है। भावों की तरंगे भी उसी से चलती हैं और विचार का स्पन्दन भी उसी से होता है। उस शक्ति को यदि हम शरीर में अधिक बरतें विशेष व्यायाम के द्वारा, और भोजन की बड़ी बड़ी मात्रायें पचाने में, तो भाव तथा विचारों के लिये दिल तथा दिमाग में खर्च हो सकने वाली शक्ति की मात्रा उतनी ही कम हो जाती है। पहलवान दिमाग़ के मन्द हुआ करते है। बुद्धि की प्रखरता[१] शरीर की प्रबलता को प्रभावित करती है। व्यक्ति जितना अधिक बुद्धि-जीवी होता चला जाता है, उतना ही शरीर भी प्रायः दुर्बल हो जाता है। ऐसा होना स्वभाविक ही है । हमारे पास सौ रुपये की पूँजी हो तो उसमें से यदि हम पचास का आटा चावल खरीद लें तो कपड़े और पुस्तकों के लिये पचास ही बचेंगे; अधिक कहाँ से आयें।*

---

१ तेजी।

* इसका यह मतलब नहीं कि व्यक्ति की समूची शक्ति में कमती बढ़ती हो ही नहीं सकती, पर वह पल भर में होंनेवाली बात तो नहीं है।

इसी प्राकृतिक[१] नियम का उपयोग संयम के लिये किया जाता है। यदि हम बुद्धि तथा हृदय में अधिक शक्ति का उपयोग करेंगे तो शरीर में कामप्रवृत्ति के रूप में प्रकट होने वाली शक्ति की मात्रा अपने आप कम ही जायगी। अतः उसका उत्पात कम होना और उसे काबू में रखना सुगम हो जायगा।

यदि भोजन के अनुकूल शारीरिक परिश्रम किया जाय तो भी शक्ति का उपयोग उस परिश्रम में हो जाने से कामप्रवृत्ति का प्राबल्य कम हो जाता है। यह भी देखने में आता ही है। परन्तु वैसा ही खाना पीना रहने पर और परिश्रम के कम हो जाने पर कामप्रवृत्त का प्रबल हो जाना स्वाभाविक ही है।

भोजन का हमारी कामप्रवृत्ति पर कितना और कैसे प्रभाव पड़ता है इसका विचार तो हम आने वाले पृष्ठों में करेंगे। यहाँ तो हमें शक्ति को शारीरिक क्षेत्र से हटा देने के उपायों का विचार करना है। और वह उपाय हैं बुद्धि तथा हृदय में शक्ति की माँग को बढ़ा देना।

हृदय भावों का क्षेत्र है। ललित कलाओं का प्रभाव भी हमारे मनोमय क्षेत्र पर ही प्रधान तथा होता है। उन कलाओं के आस्वादन के लिये, उनके निर्माण के लिये, शक्ति का उपयोग हमें अपने मनोमय कोष में—हृदय क्षेत्र में करना होता है। इसके साथ ही साथ हमारी चेतना के बहुत ऊँचे स्तर भी क्रियाशील हो जाते हैं इससे सन्देह नहीं। चित्रणकला, प्रस्तर कला, गान विद्या, कविता आदि साहित्य की रचनायें भी प्रधानतया

---

१ स्वाभाविक

इसी क्षेत्र में आती हैं। इन कलाओं में रचना के लिये कलाकार को अपनी आत्मा इनमें उँडेल देनी होती है। तन्मयता१ इनकी प्राथमिक मांग है। तन्मयता व्यक्ति के शक्ति-प्रवाह को सब ओर से अधिकाधिक समेट कर एक ही ओर प्रेरित कर सकती है। कलाकार२ और कलावेत्ता३ शरीर से ऊपर उठ जाते हैं। उस समय के लिये तो शरीर के विकारों और तत्सम्बन्धीं स्पन्दनों के क्षेत्र से परे होते हैं। जितनी मात्रा मे कलाकार अपने को तन्मय कर सकता है उतनी मात्रा में वह कामप्रवृत्ति से ऊपर भी उठ सकता है।

यह सम्भव तभी होता हैं जब कला हमारा हृदय हर ले। हमारी उसमें खूब रुचि हो। कला का अभ्यास करने से वह रस का दान देती है और रुचि बढ़ती चली जाती है। कला का अनुशीलन४ कलाकार के लिये पावन तपस्या हो जाती है। इससे एक सीमा तक उसके हृदय का शोधन भी होता है। उतनी ही मात्रा में वह ऊँचे रस का—परमानन्द की झलक का आस्वादन भी कर पाता है।

इस कोटि का लाभ कला के क्षेत्र में बिरले ही कर पाते हैं। परन्तु कला में सामान्य रुचि और रचनात्मक प्रयत्न व्यक्ति के पशुत्व का शोधन करने में सहायक होते हैं इसमें सन्देह नहीं है। सूक्ष्म आनन्द की अनुभूति पाशविक सम्भोग के आनन्द से व्यक्ति को ऊपर उठा देती है। शक्ति का सूक्ष्म शरीर से

---

१ उसी मे लीन होना। २ कला की वस्तु बनाने या उत्पन्न करने वाले
३ कला का ज्ञान रखने वाले, पारखी। ४ चिंतन, मन

अन्यत्र व्यय कम हो पाता है, परन्तु उस व्यय से सूक्ष्म अनुभूति की योग्यता और आनन्द भी जगता है। इसी प्रकार से विकास को आगे ले जाने में ललित कलाओं का विशेष स्थान है।

ललित कलाओं में भी गान विद्या सब से श्रेष्ठ है। गान विद्या के अभ्यास करने वाले विद्यार्थियों की काम सम्बन्धी समस्यायें स्वतः हल होती चली जाती हैं। भावों के प्रवाहित होने के लिये ऊँचे तथा सरस क्षेत्र मिल जाते हैं।

बुद्धि का क्षेत्र है विचार। सूक्ष्म विचार दर्शन का अध्ययन तथा मनन भी न केवल शक्ति का उपयोग करता है वरन् व्यक्ति में तन्मयता ले आता है। गणित की उड़ान (Higher Mathematics) का भी यही प्रभाव होता है। दार्शनिक लोग अपने में खोए रहते हैं और गणितज्ञ भी। इस तन्मयता के बारे में तो दर्शनवेत्ताओं* की कई कथायें प्रसिद्ध हैं। सूक्ष्म विचार तरंगों को पैदा करने का काम और समझने का पुरुषार्थ व्यक्ति के सूक्ष्म संस्थान को, मस्तिष्क सम्बन्धी केन्द्रों को अधिक क्रियाशील-कर देता है। एक आर शक्ति का प्रवाह स्थूल में कम होता है, दूसरी ओर सूक्ष्म तथा संयम का सामर्थ्य रखने वाले केन्द्र अधिक क्रियाशील हो जाते हैं, अतः कामप्रवृत्ति अपने बल को खो देती है।

स्थूल काम का बीज प्राण में रहता है। वह जितना हृदय को, भावों के जगत् को, प्रभावित कर सकता है उतना बुद्धि के

---

* तत्वज्ञानी, फ़िलासफ़र

जगत को नहीं कर पाता है। इसके विपरीत बुद्धि के विकास से जितने वह प्रभावित होता है, वश में हो जाता है, उतना केवल मात्र हृदय के विकास से नहीं हो पाता। बुद्धि का इस प्रकार का विकास तो हृदय की भावुकता पर भी आघात करता है। बुद्धिप्रधान[१] व्यक्ति का संयम समझ बूझ कर किया गया होता है।

इसके विपरीत हृदय-प्रधान[२] कलाकार अनजाने ही कला के रस का पान कर उसमें खोया रहता है। वह उस क्षेत्र से उतरे तो स्थूल जगत में काम की प्रवृत्ति का बुरी तरह से शिकार हो जाता है। उसके जीवन में, वृत्तियों में, स्थिरता का अभाव रहना स्वाभाविक सा है। मन का स्वभाव तरलता है। हृदय-तरंग में स्थिरता असम्भव है। कलाकारों के जीवन में मादक द्रव्यों का उपयोग संयम को समाप्त कर देता है। अपने को खो जाने के लिये प्रायः कलाकार मादक द्रव्यों के शिकार हो जाते हैं उस सहायता के बिना उस तन्मयता को लाना कई प्रकार की रोक थाम और विशेष अभ्यास से ही सम्भव है। अतः इस आसान तरीके को अपनाया जाता है। ऐसा होने पर कला का कोई रचनात्मक प्रभाव कलाकार के जीवन पर नहीं पड़ सकता।

वास्तव में संकल्प ही हमारी शक्ति को दिशा प्रदान करता है। बुद्धि, भाव; प्राण, इन्द्रियाँ उसी के इशारे पर नृत्य करते हैं। यदि किसी कार्य के लिये व्यक्ति में प्रबल रूप से संकल्प

---

१ जिसका विवेक अधिक बलवान होने के कारण भावों पर अधिकार पा जाता है।

२ जिसके भाव इतने प्रबल हो कि विवेक को बेकार कर दें।

जग जाये तो व्यक्ति की प्रायः समूची शक्ति उसी की सिद्धि के लिए प्रवाहित होने लगती है। काम की प्रवृति उस बाढ़ में बह जाती है।

जितना ऊँचा लक्ष्य; जितना विशाल आदर्श व्यक्ति के संकल्प को प्रेरित करता है। उतना ही ऊँचे तथा विशाल रूप से संकल्प जग जाता है। जितना स्थिर तथा तीव्र संकल्प होता है उतना ही वह हमारी जीवन शक्ति को नया रास्ता देने में समर्थ होता है। ऐसे संकल्प को ही महत्वाकांक्षा कहते हैं।

आदर्श हो सकता है पूँजी का संचय करना, मान की प्राप्ति और अनेक दूसरी सिद्धियाँ भी। लोग मतवाले हुये इन बातों के पीछे खाना पीना तक भूले रहते हैं; और बातों का क्या कहना? परन्तु वह लक्ष्य जितना 'स्व' से दूर होगा, जितना निजी व्यक्तित्व से परे होगा, उतना ही उसमें व्यक्ति को आगे ले जाने का सामर्थ्य अधिक होगा, उतना ही उसमें से फिर लौट कर काम पाश में फँसने की सम्भावना न रहेगी। वह व्यक्ति का स्थायीरूप से रूपान्तर कर देगा। काम का डेरा ही हमारे भीतर न रह पायगा।

ऐसा लक्ष्य हो सकता है, दूसरों की सेवा हमारी सेवा की भावना जितनी निःस्वार्थ होगी, गहरी होगी; और दूर तक ले जाने वाली होगी, उतना ही त्याग हमारे लिये स्वाभाविक और सुगम हो जायगा। सेवा की भावना हमें अपने लिए, अपने सुख के लिए, तृप्ति के लिए आनन्द के लिए सोचने ही नहीं देगी। हमें दूसरों का सुख, दूसरों का हित इतना प्रिय होगा कि उससे कभी छुट्टी ही नहीं होगी। हमारी शान्ति, हमारी तृप्ति, हमारा

आनन्द दूसरों के लिए अपनी शक्ति का उपयोग करना ही होगा। सेवा की तीव्र लगन जो सारे व्यक्तित्व को व्याप्त कर दे व्यक्ति को कामवासना से ऊपर उठा देती है। वह सेवा की अग्नि में से ज्वलंत[1] स्वर्ण होकर निकलता है। उसकी निजी समस्यायें स्वतः हल हो जाती हैं।

इसी प्रकार से, इतने वेग और व्याप्ति के साथ लग सकने वाली लगन, प्रभु की लगन है उसका हो जाने की, उसका यंत्र बन जाने की, उसमें घुल मिल कर आपा खो देने की लगन है। काम की शक्ति ही इस लगन के रूप को धारण कर लेती है। वही काम जो स्त्री-पुरुष के संयोग को चाहता है स्थूल में, वही जीवनी शक्ति जो भाव के आनन्द लोक में प्रेमी-प्रेमिका का स्पर्श खोजाती है, वही जो बुद्धि के क्षेत्र में समन्वय को बाट जोहता है, वही आत्मा के क्षेत्र में प्रभु के प्रेम से आप्लावित[2] हो अपना आपा खो देना चाहता है उस प्रियतम में जिससे फिर वही रह जाय-दो न रहें, एक ही हो और वह प्रिय प्यारा ! यह लगन अग्नि रूप हुई सभी इच्छाओं को, रसोन्मुख प्रवृत्तियों को, काम की पिपासा को दग्ध कर सकती है। सन्तों के चरित्र और भक्तों की जीवनियाँ इसका ज्वलंत उदाहरण है।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि इस प्रकार से जगा हुआ संकल्प सेवा के लिये, प्रभु मिलन के लिए (और यह दो तो एक ही हो जाते हैं; वह सेवा प्रभु की सेवा होती है और वह सेवा का

---

१ तपा हुआ, निखरा हुआ
२ सराबोर

प्रभु होता है, जैसा शक्ति का पूर्ण रूपेण उननाह कर सकता है न वैसे ललित कलायें और न बुद्धि का परिशीलन। इसके सामने वह खेल हैं। यह बड़ा वेगवान दरिया है तो वह छोटे छोटे नालो यह प्रचण्ड वेगवती आग तो वह धुआँ सा।

---

(३)

मातृ भावना !

"प्रत्येक स्त्री जगन्माता का पुण्य प्रतीक है। उसी जगन्माता की गोदी में सदैव खेलने की लालसा करो,। कल्पना करो, मैं बालक हूँ जगदम्बा की गोद में। मन ही मन खूब झुक जाओ और मन ही मन चरण छूलो। अपनी माँ की बहिन की तथा अन्य लोगों की स्मृति जगाओ"†

वह परम प्रभु पुरुषोत्तम इस जगत् की माता है और पिता भी। वही महा शक्ति रूप है। जो परमेश्वर को माँ समझते हैं उनके लिये तो काम की समस्या बहुत सुगम हो जाती है। वह माता हैं,। बालभाव तो सहज भाव है, जिसके जगते ही काम शान्त हो जाता है। माता की समीपता, माता की स्मृति जब बालभाव को जागृत करती है तो तन शान्त होता है, मन शान्त हो जाता है और इन्द्रियां भी शान्त। कैसी शान्ति की सरिता मातृत्व की पुण्य स्मृति है। उसके स्तनों से स्रवित* दुग्ध तो विकारों को शान्त करने वाला होता है। उसकी मधुर मुसकान ताप हर लेती है। उसका वरदहस्त$ निश्चिन्त कर देता है। माँ की गोद तो महान् सुख स्वप्न ही है। 'माँ' यह एक शब्द हृदय को स्नेह से आसवित कर देता है!

† "For Aspirants" "नामक पुस्तक से उद्धृत। * बहा हुआ निकला हुआ। $ वर देने वाला, रक्षा करने वाला हाथ।

यह मानव का सहज स्वभाव है। "पुरुष का भी और स्त्री का भी, बालक का भी और युवा का भी और वृद्ध का भी।" बड़े होने पर भी माँ, माँ ही रहती है और बच्चा बच्चा ही। यह नाता है जिसमें फीकापन नहीं आता।

'कुपुत्रो जायेत क्वचित् कुमाता न भवति।

'पूत कुपूत हो जाय तो भले ही हो जाय, माँ कुमाता नहीं हो पाती'। ममता से ग्रस्त माँ को बच्चे द्वारा ठुकराये जाने पर भी उसी को देख कर प्रेम से विभोर होते तो अनेकों ने देखा होगा।

और जब हम प्रभु को माँ कहते हैं तो हम अपने को धोखा नहीं देते। माँ बच्चे को गर्भ में माप देती है। प्रभु ने हम सभी को अपने में भाप रक्खा है। माँ बच्चे को शरीर देती है। प्रभु भी हमारे शरीर के दाता हैं। न केवल स्थूल शरीर के ही हमारे सभी सूक्ष्मीय शरीरों का निर्माण उन्हीं की लीला है। और तिस पर हमारी सत्ता भी उन्हीं की है, हमारा जीवन भी उन्हीं का। माँ प्यार करती है, पोषण करती है, देख रेख करती है। और परमप्रभु सभी कुछ करते हैं और उसके साथ ही साथ अपनी कृपामयी दृष्टि से अपने पूर्ण आकर्षण से-हमें अपनी ओर भी तो खींचे लिये जा रहे हैं।

मातृशक्ति वास्तव में उसी का अंश है, छाया है, और उसी की याद दिलाती है। जो काम इस विशाल विश्व में प्रभु का है वही इस छोटे परिवार की दुनिया में बालक के लिये माँ का है। प्रभु की रचनात्मक शक्ति 'रयि' माँ में निवास करती है। वह उस महाशक्ति-जगदम्बा की प्रतीक है। प्रतीक से प्रतीकवाली

का याद आती है और आनी चाहिये । प्रतीक में प्रतीकवाली सत्ता का निवास होता है। माँ का तो सबमें निवास है। महा-शक्ति तो अपनी सारी रचना में रहती है । वह फिर प्रत्येक स्त्री में तो रहती ही है। स्त्री के देखने से माँ की, महाशक्ति की-स्मृति जग जाय, उसके सान्निध्य१ का भान होने लगे तो क्या विस्मय यह साधना काम के परिशोध की और उननाह की-दोनों की एक दम से साधना है । यह भाव की तथा बुद्धि की इकट्ठी साधना है। यह पवित्रता की और दिव्यत्व समूची की साधना है। माँ कृपा कर ऐसे साधक को कामवासना से ऊपर कर देती है। कृपामयी माँ ऐसे साधक पर प्रत्येक स्त्री में माँ बन के झाँकने लगती है और उसे अपने विशुद्ध प्रेम से मासरवित कर देती है । वह जगदम्बा ऐसे साधक के साथ, ऐसी भावना वाले के साथ माँ बनी रहा करती है।

'जो हम से छोटी हैं, जो हमारी बहिनें हैं, जो हमारी पुत्रियाँ सरीखी हैं उनमें हम माता को कैसे देखें ?' शायद आपके भीतर प्रश्न हो। वह माँ की प्रतीक हैं। माँ का उनमें निवास तो है ही। वह माँ तो भिन्न भिन्न रूपों में विचरती है। 'त्वं स्त्री त्वम् पुमानसि 'त्वं कुमार उत वा कुमारी'२। तू स्त्री है तू पुरुष है तू ही कुमार है और कुमारी भी'। और साधना की एक अवस्था आयेगी जब यह सारा जगत, क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या बालक, क्या वृद्ध जड़ चेतन यावत्* मातामय दीखने लगेगा।

साधना का एक और भी तरीका रहा है । स्त्री को नारी

---

१ समीपता 'निकटता।

२ श्वेताश्वतरोपनिषद् । * तक, जो कुछ भी है।

समझ कर, रमणी समझ कर, ललना समझ कर उससे डरना, घृणा करना और भागना। कामिनी कांचन* के फंदों की चर्चा कितनी व्याप्त है हमारे धार्मिक साहित्य में ? कितना भयत्रास दिखाया जाता है! स्त्री का दर्शन मात्र पाप समझा जाता है। परन्तु मैं कहता हूँ यह स्त्री का तिरस्कार नहीं यह महामाता का तिरस्कार है। स्त्री को स्त्री समझोगे तो जङ्गल में भागने पर उसकी छाया आपको कामान्ध कर सकती है; स्त्री-दर्शन से डरोगे तो उसका स्वप्न आपको कामातुर कर देगा। स्त्री को माँ बनाओ, और उसमें विराजनेवाली महामाता के आगे झुक जाओ। सारी दौड़ समाप्त हो जायेगी। भय चला जायेगा। स्त्री माँ बनी हुई आप पर कृपा करेगी, चेतना के परदे खोलती चली जायेगी।

और गृहस्थी ? उसकी समस्या तो और भी सरल है। पत्नी तो माँ की तरह पति की देख रेख करती है और माँ होती ही है उसके अपने पुत्र-पुत्री की। पति स्वयं ही तो पुत्र-पुत्री के रूप में आता है। वह उसके ही तो प्रतीक हैं। उस नाते अपनी सहधर्मिणी में वह भावना जग सकती है। और उसके पुष्ट होते होते काम सम्बन्धी समस्या भी हल हो जायगी।

परन्तु यह सभी तो आधा ही हल है। देवियाँ पूछेंगी। "काम की प्रवृति पुरुषों तक ही सीमित नहीं है। काम विकार तो स्त्रियों में भी होता ही है, और उसका परिशोधन उतना ही आवश्यक उनके लिये है जितना पुरुषों के लिये। उसका तरीका ?"

---

* सोना, धन।

शक्ति उन्नाह के बारे में जो कहा गया है वह पूरी तरह से लागू है सभी पर।

स्त्री हृदय भाव प्रधान हृदय है। स्त्री-व्यक्तित्व हृदय-प्रधान व्यक्तित्व होता है। स्त्रियों में काम की प्रवृत्ति भी हृदय के क्षेत्र में अधिक तृप्ति चाहती है' भाव के द्वारा ही काम की अधिकतर शान्ति हो जाती है। शरीर के क्षेत्र में काम की प्रवृत्ति उतनी उत्तप्त करने वाली स्त्रियों में प्रायः नहीं होती है जितनी पुरुषों में। अतः उनकी समस्या ऊँचे क्षेत्र से अधिक सम्बन्ध रखती है और सरल भी है।

जिस प्रकार से पुरुष मातृभावना को जागृत करते हैं वैसे ही स्त्रियाँ पितृभावना का अभ्यास करें। वह उनके लिये भी उतनी ही हितकर हो सकतीं है। परन्तु मातृभावना का भी यदि उपयोग व्याप्त रूप से किया जाय तो उसी प्रकार का परिणाम सम्भव है। महाशक्ति तो पुरुषों में भी निवास करती है। पुरुष भी उसके प्रतीक हैं विशालतर दृष्टि से। उनमें जगदम्बा की भावना काम विकार से स्त्रियों को मुक्त कर सकती है।

इस प्रकार से मातृभावना का अभ्यास आपके वाह्य तथा आन्तरिक व्यवहार में सौम्यता ले आयेगा। स्त्रियों से डर न लगेगा, संकोच भी न होगा और प्राण भी शान्त रहना सीख जायेगा। पुरुषों से स्त्रियों को भय न होगा। जैसा आत्मीय से निःसंकोचता हो जाती है वैसे ही सभी से होने लगेगी। स्त्रियत्व तथा पुरुषत्व का भान लुप्त होता चला जायगा। यह कामातिक्रमणं की ओर एक महान् पग होगा।

---

*कामभावना से ऊपर उठ जाना।

(४)

मनोविकार

समाज के द्वारा निर्धारित सीमाओं का अतिक्रमण न करने वाले व्यक्ति भी काम सम्बन्धी मनोविकारों से पीड़ित देखने में आते हैं। प्रायः बाहर से अधिक शान्त, आन्तरिक विकारों से अधिक परेशान होते हैं। काम सम्भोगेच्छा कई गृहस्थियों के, लोगों को सतत व्याकुल किया करती है। यह सम्भोग के उपरान्त कुछ ही समय तक शान्त रहने पर फिर जग जाती है और पीछा नहीं छोड़ती। नव-विवाहित१ अपने काम काज में इन्हीं विकारों की तीव्रता के कारण प्रायः ढीले पड़ जाते हैं।

काम को संस्कृत में मनोभाव कहते हैं। मनोभाव का अर्थ होता है 'मन में पैदा होने वाला। इसका प्रथम उद्भव२ शुक्र-ग्रन्थियों की क्रिया शीलता का समकालीन३ होता है। मन में स्थूल स्पन्दन पैदा होते हैं। उनका प्रभाव शुक्र ग्रन्थियों पर पड़ता है। काम सम्बन्धी भावों से तरंगित विचार पैदा होने लगते हैं। युवक परेशान हो जाता है। 'ऐसी ऐसी बातें मन में आती हैं।' अपरलिंग४ के व्यक्तियों की स्मृति छाया बनकर पीछा करती है। यदि विवेक बुद्धि न जगी हुई हो तो शरीर की क्रियाओं में, छेड़

---

१ नई शादी वाले। २ उदय। ३ उसी समय पैदा होने वाला। ४ दूसरा स्त्री के लिये पुरुष और पुरुष के लिये स्त्री।

छाड़ में, आव भाव में कटाक्ष में और वाणी-विलास१ में कामुकता प्रकट होने लगती है। वातावरण ही कामविकार पूर्ण हो जाता है।

जो युवक विचार शील होते हैं उनके वाह्य व्यवहार पर इस अवस्था का कोई विशेष असर नहीं पड़ता। यह उठता हुआ तूफान उन्हें तो अपने भीतर ही सहन करना होता है। भीतर प्रायः घोर संघर्ष चलता है। कई युवक और युवतियाँ इस उठते हुये तूफान को सहन न कर सकने के कारण समुचित ज्ञान तथा बल के अभाव के कारण हस्तमैथुन आदि द्वारा शान्ति प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। परन्तु जैसे मधुपान से कमजोरी जाती नहीं है और बढ़ती जाती है और अधिक मधु माँगती है ऐसी ही हालत इन लोगों की होती है। वह एक दलदल में फँस जाते हैं। जितनी चेष्टा भागने की होती है उतने ही और फँसते हैं।

आज के मनोवैज्ञानिकों में से एक तो हस्तमैथुन को बुरा नहीं मानते हैं उनका कथन है कि कभी कभी किया हुआ हस्त-मैथुन व्यक्ति को शान्त कर देता है और किसी प्रकार की हानि नहीं करता। इस विचार के मूल में वही भ्रम है जिसका संकेत मैंने ऊपर आज के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की चर्चा करते समय किया था। कामसंभोग की भूख भी स्वभाविक नहीं है जैसी कि सामान्य भूख*।

---

१ बातचीत

*Psychology of Childhood 16 Maturity.
देखिये पृष्ठ १७

हस्तमैथुन की प्रवृत्ति शारीरिक तथा मानसिक कारणों को लेकर होती है। काम की समय से पूर्व और अत्यधिक उत्तेजना ही इसके मूल में रहती है। यह बीमारी है। इसका इलाज करने की आवश्यकता है, न कि हस्तमैथुन के द्वारा क्षणिक लाभ। हस्तमैथुन कामविकार को बढ़ाता है, शान्त नहीं करता। दूसरा, इसकी सीमाओं का जो व्यक्ति निर्धारण कर सकता है, वह व्यक्ति इसका शिकार ही न होगा। वह अपने को इस आदत से बचा सकेगा।

हस्तमैथुन से शक्ति का ह्रास होता है, एक बड़ी मात्रा में इससे कोई इनकार नहीं कर सकता। वीर्य का नाश तो रहा ही, सारे के सारे ज्ञानतन्तु संन्धान पर धक्का लगता है, जिसका प्रभाव बहुत गहरा होना स्वाभाविक है। मैं तो विस्मित हूँ कि किस प्रकार से गैर जिम्मेदारी की वात कह दी गई है कि हस्तमैथुन से विशेष हानि नहीं होती।

हस्तमैथुन बुरा है। इसकी बुराइयों की चर्चा की जरूरत नहीं। इससे होने वाली हानियों को गिनने की भी आवश्यकता नहीं है। बीते पर पश्चाताप अथवा आत्मग्लानि से कोई लाभ नहीं। परन्तु इतना भली प्रकार से जान लेना चाहिये कि हमे तो काम का परिशोधन करना है, इसका अतिक्रमण करना है इसका दास नहीं बनना है। जितना हम अपनी शुक्र ग्रन्थियों को हस्त-मैथुन द्वारा उत्तेजित करेंगे, जितना हम अपनी इन्द्रियों का परि-चालन करेंगे, उतना ही और परिचालन की वह माँग करेंगी और उतनी हमारी समस्या कठिन होती चली जायगी, हमारा

आदर्श हमारे सामने स्पष्ट है और उसके साथ हस्तमैथुन मेल नहीं खाता। हमारे जीवन में उनके लिये स्थान नहीं हो सकता।*

अब हम ठीक मनोविकारों के क्षेत्र में आते हैं। मनोविकार इस बात के परिचायक हैं कि काम की शक्ति विचार क्षेत्र में कितनी प्रबल है। वह हमारी समस्या की घोरता का परिचय देते हैं। काम के अतिक्रमण के लिये हमें इन विकारों से पूर्ण रूपेण मुक्त हो जाना है।

जब तक भीतर काम का साम्राज्य है तब तक उससे सम्बन्ध रखने वाले संस्कार इन्द्रियों द्वारा, विशेष कर दृष्टि के द्वारा पड़ते हैं। जहाँ भी हम वाह्य जगत में, मानुषी अथवा पाशविक जगत में, काम के उद्भव को देखते हैं, वह हमारे भीतर भी उसी प्रकार की तरंगों को पैदा कर देता है। वह संस्कार बन कर हमारे भीतर पैठ जाता है और अनुकूल परिस्थिति होने पर स्मृति रूप से जागृत होता है। मन, मनन के द्वारा उसे पुष्ट करता है। कभी कभी अति-पुष्ट संस्कार इच्छा का रूप भी ग्रहण करता है। कामो-पभोग की स्मृति का भी इसी प्रकार से जग जाना और मनुष्य को उसी पथ में प्रेरित करना स्वाभाविक ही है। मनुष्य नहीं चाहता है कि इस प्रकार के संस्कार उसमें जगें और उसके भीतर मनन हो, परन्तु वह तो रोके रुकता नहीं। भीतर एक संघर्ष चलता है। व्यक्ति उनको बुरा करके जानता है। अपने को

---

* जो बातें अब तक कही गई हैं और जो आगे भोजनादि के प्रसंग में कही जायेंगी, उनकी ओर ध्यान देने से इस आदत से छुटकारा पाना बिल्कुल कठिन न होगा।

कोसता है। वह आत्मग्लानि के भावों से भर जाता है। अपने को पातकी तथा पतित समझने लगता है। भावुक हृदय तो भगवान् के आगे रो भी देते हैं, इसी आकुलता के आवेश में।१

भाव तथा बुद्धि के क्षेत्र में काम विकारों से परे होने के लिये पहिली आवश्यकता है अपनी मनोवृत्ति को ठीक करना। हम अपने को ऊँचे उठे हुये पवित्रात्मा समझ कर चलने लगते हैं, इसी लिये तो काम विकारों के दीखने से क्षोभ होता है। हम जहाँ पर हैं, अपने को वहीं समझें। काम विकार भीतर हैं; काम संस्कारों तथा काम शक्ति के होने का वह परिचय मात्र हैं। हमे साधना के द्वारा ऊपर उठ जाना है। यह काम केवल इच्छा मात्र से न होगा। एक ओर शक्ति का उन्नाह (ऊपर जाना) हो और दूसरी ओर आज तक के पड़े हुये संस्कार सभी क्षीण हो जाँय तभी यह बात सम्भव है। तभी हम मुक्त हो पायेंगे काम के प्रभाव से। यह जीवन भर की साधना है; शायद एक जन्म में भी पूरी न हो। तो साधना के काल में हमें अपने भीतर सतत क्षीण होते हुये इन विकारों को, रूपान्तरित होती हुई काम शक्ति को, सहन करना ही होगा। जितनी समता से, सौम्यता से और बुद्धि पूर्वक हम इसे सहन करेंगें उतना ही हमारा कार्य सुगम हो जायेगा। जितना घबरायेंगे डरेंगे उतना ही यह कार्य जटिल तथा दुःसाध्य हो जायेगा। अतः काम विकार के लक्षित होने पर हम अपने से घृणा न करें और उसके कारण दूसरे को भी नीचा न समझें। यह आवश्यक अवस्था है जिसमें से होकर हम सभी

१—दौरा

को, आज ऊँचे स्थित संतो को भी गुजरना पड़ा है। कोई भी पगडंडी यहाँ पर नहीं बन सकती।

इतनी समझ होने पर व्यक्ति को अपने भावों का तथा विचारों का साक्षी बनना सीखना है। भाव हमारे मनोमय कोष की लहरें हैं; विचार हमारे बुद्धिमय जगत् की तरंगे हैं—हम सोचते हैं, हमें भाव आते हैं, हम विचार करते हैं। वास्तव में प्रायः जो भाव और विचार चलते हैं वह तो मन तथा बुद्धि में स्थित संस्कारों की उथल पुथल से और बाहिर से आने वाली तरंगों की क्रिया-प्रतिक्रिया से उठा करते हैं। हमारी शक्ति मात्र रहती है मन तथा बुद्धि के पीछे, और मूक अनुमति। साक्षी बनते ही इस बात का बोध होने लगेगा। जैसे बाहर की दुनिया में हम परिवर्तनों को देखते हैं इसी प्रकार भीतर की दुनियाँ में हम तरंगों और परिवर्तनों को देखेंगे। इससे उन तरंगो का प्रभाव हम पर नगण्य हो जायगा और उन तरंगों का बल लुप्तप्राय[1]। हमारे ही बल से वह बली हैं।

जो व्यक्ति आज अपने कामवेग को सहन नहीं कर सकता; बलात् उसके वशीभूत होता है; यदि वह अपने लक्ष्य को स्पष्ट समझने की चेष्टा करे और साक्षित्व[2] का अभ्यास करे तो थोड़े ही समय में अपने विकारों का वह अपने को स्वामी पायेगा। उठती हुई तरंग को अपने से अलग समझना इसका रहस्य है। कोई भी स्पन्दन हम से अलक्षित[3] न रह सके, यह सार है।

---

१ करीब करीब खतम। २ गवाही होने का भाव।
३ छिपा हुआ।

तीसरा, इन तरंगों से लड़ाई न लड़नी होगी; इन से घबराना न होगा। इनकी उत्पत्ति के कारण को समझना होगा और अपने मन, बुद्धि को अपने आदर्श की याद दिलानी होगी। यह बात भी समझनी होगी कि यह सब उस आदर्श से बेमेल है। इसका मेरे जीवन में कोई स्थान नहीं हो सकता। इस प्रकार की जगी हुई दृढ़ बुद्धि जो केवल काम-विकार की सत्ता मात्र को पहिचानती है और उनकी उपेक्षा[1] करती है, आगामी लक्ष्य पर स्पष्ट दृष्टि रखते हुये व्यक्ति को बड़ी तेज़ी से आगे ले जाती है। न केवल स्थूल क्षेत्र में संयम की कोई समस्या नहीं रहती; हृदय और मस्तिष्क भी शुद्ध होने लगते हैं।

मनोविकारों की उद्भूति[2] उनके नष्ट होने से पूर्व हुआ करती है। यह स्वाभाविक है। इस शोधन के पथ पर चलने में समय समय पर आँधियाँ आयेंगी, उनसे घबराना न होगा। वह स्वतः शान्त होती चली जायेंगीं और प्रत्येक आँधी के उपरान्त व्यक्ति अपने को पहिले से अधिक स्वतंत्र तथा शुद्ध पायेगा।

मनोविकारों से झगड़ना और उनको दबाने की चेष्टा करना, रोग को दबाने की चेष्टा करने के समान हैं। भीतर संघर्ष तो होगा ही। यदि दुर्भाग्य वश वह संस्कार दब जायेंगे तो हमारा भविष्य सम्भावना-शून्य[3] हो जायेगा—कुछ समय के लिये तो अवश्य ही; और यदि वह विकार दब नहीं पायेंगे तो निराशा

---

१ ध्यान न देना। २ पैदाइश।

३ जिसमे सुधार की गुंजाइश न हो।

तथा निरुत्साहिता१ हमें चिपक जायेंगे। मनोविकारों से झगड़ना हर तरह से घाटे का सौदा है।

जिस रास्ते का ऊपर वर्णन किया गया है उसमें सफलता तो निश्चित है। आन्तरिक संघर्ष से बचकर व्यक्ति सौम्यता की ओर चलता चला जाता है।

१—हिम्मत टूटना, हिम्मत की पस्ती।

(५)

गार्हस्थ्य और काम

एक सामान्य गृहस्थ के लिए गृहस्थी में रहते हुये कामशक्ति का उन्नाह कर डालना, इसका अतिक्रमण कर जाना, प्रायः असम्भव समझा जाता है। परन्तु मैं तो ठीक इसके प्रतिकूल बात को सत्य समझता हूँ। गृहस्थ ही इस शक्ति के ऊपर उठने के लिये सर्वोत्तम शिक्षा स्थल१ है। वैवाहिक जीवन में जिस प्रकार से सुगमता तथा सौम्यता से व्यक्ति कामशक्ति के ऊपर उठते चले जाते हैं; यह मुझे रोज़ रोज़ देखने को मिलता है; यदि मेरी दृष्टि पक्षपात से पूर्ण नहीं तो इसके विपरीत वह लोग जो इस पवित्र आश्रम से परे हैं, जो अवैवाहिक जीवन व्यतीत करते हैं। उनके भीतर कामशक्ति का दमन मात्र मैंने देखा है, जिसके फल स्वरूप एक विचित्र संकोच जीवन में और मन्थरत्ता२ विकास में हो जानी स्वाभाविक ही है। इसके कुछ इने गिने प्रतिवाद३ हैं, इससे मैं इनकार नहीं कर सकता।

"गृहस्थ जीवन में तो सहधर्मिणी४ का सम्पर्क हमेशा रहने से प्रलोभन हमेशा बना रहता है कामसम्भोग में अतिशय५ का।" आप पूछेंगे, 'वहाँ काम का शोधन कैसे सम्भव है?' ठीक इसी लिए विवाह होता है, आन्धी आती है, युवक खोया

गार्हस्थ=गृहस्थी का जीवन। १—स्कूल। २ सुस्ती, ढीलापन। ३—गलत साबित करने की मिसालें। ४—धर्मपत्नी-स्त्री। ५—ज्यादती।

सा रहता है। युवा अवस्था के कारण भी स्थूल-काम-वृत्ति प्रबल हो उठती है। परन्तु वह अवस्था तो बहुत दिन रह ही नहीं पाती है। शरीरिक सीमाओं के कारण और दाम्पत्य१ जीवन में गहराई के पैदा होने के कारण। आत्मत्याग और अपने को दूसरे के साथ एक करके ही सुखी होने का भाव पत्नी का जगता है पति भी अपने 'स्व' के क्षेत्र में पत्नी का भी समावेश करने लगता है। एक गहरी सच्चाई प्रेम को शुद्ध स्तर पर स्थापित कर देती है। काम शरीर के क्षेत्र से ऊपर उठने लगता है। भाव तथा भाव से भी ऊँचे जगत का प्रेम प्रकट होता है। शारीरिक सम्भोग क्रमशः गौण२ होने लगता है।

गृहस्थ में नई आ मा का आगमन होता है। सन्तानोत्पत्ति के साथ ही पति-पत्नी पिता और माता बनते हैं। त्याग क क्षेत्र बढ़ता है। प्रेम नई पुष्टि और पुट को पाकर और ऊपर उठ जाता है। मानों आत्मा आत्मा का योग हो। वह दो अपनी संतान में एक हुये जीने लगते हैं। काम और भी शुद्ध हो जाता है।

इसमें कदापि सन्देह नहीं कि कई व्यक्तियों में काम का प्राबल्य ठीक बुढ़ापे तक चलता चला जाता है। परन्तु यह तभी जब जीवन का कोई लक्ष्य न हो और जीवन में कोई साधना न हो। जब हम गृहस्थी को शिक्षास्थल मानने जा रहे हैं तो हमारे लिये यह शिक्षास्थल बन ही जायगा।

काम की उत्तेजना के मूल में नूतनता एक बहुत ही महान् तत्व है। वह पुरुष जिसने स्त्री के दर्शन तक न किये हों उसके

१—जोड़े के, पति पत्नी के। २—कम ज़रूरी।

लिये वह उत्तेजना बहुत तीव्र होगी, परन्तु वही जब स्त्री के सम्पर्क में रहने लगता है तो दर्शन का प्रभाव ही कुछ नहीं पड़ता। वह 'सामान्य'–रोज रोज की बात नगण्य हो१ जाती है। जहाँ पर जितना अधिक परदा है, अंग छिपाने का रिवाज है, उतना ही कामभाव पुरुष तथा स्त्रियों में लक्षित होता है। इसके विपरीत जहाँ स्त्रियाँ पुरुषों से कंधा मिलाकर बाजारों में घूमती हैं, बसों तथा गाड़ियों में जाती हैं, जहाँ सम्पर्क बेरोक है वहाँ दर्शन तथा स्पर्श बिल्कुल प्रभाव-शून्य हो जाते हैं। एक पश्चिमी विद्वान् लिखते हैं कि काम-सम्भोग-सम्बन्धी नियम कपड़े के माप के बढ़ने के ठीक प्रतिकूल घटते चले जाते हैं।* अर्थात जितना पर्दा उतना ही काम विकार का आधिक्य। यह आपाततः बड़ा विस्मयकर प्रतीत होगा; परन्तु है एक तथ्य ही। दक्षिण अफ्रीका के कम्बिओएडों वंशज जो कीन्या में रहते हैं, और बिल्कुल नंगे रहते हैं व्यभिचार से बिल्कुल रहित हैं। बारबार के सम्पर्क से व्यक्ति में प्रभावित होने की योग्यता का मान्द्य१ हो जाता है। यह मनोविज्ञान का सिद्धान्त है।२

---

१ मन्द होने का भाव यानी सुस्ती, कमी।

* It (the law of sexual mortality) varies inversely as the square of calico. J. H. Curle in 'Today and Tomorrow' quoted in 'Science of Brotherhood' by E. wood.

2—Science of Brotherhood by E. Wood. Repitition dulls sensibility but improves preception.

इससे यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि गृहस्थ में जहाँ पर पति-पत्नि का सामीप्य एक प्रलोभ न हो सकता है वहाँ वह काम-भावना को बहुत सीमा तक शान्त भी कर देता है। अतः शारीरिक क्षेत्र में भी कामशोधन में सहायक ही है। सम्भोगेच्छा के क्षय[1] का परिचय तो अवसर के होने पर ही पूरी तरह से मिल सकता है। अन्यथा कैसे ?

काम शरीर में भी रहता है, और इसकी स्थूलतम वासना तो कामसम्भोग से आसानी से शान्त होती है। (परन्तु यहाँ यह याद रखना चाहिए कि यदि हम किसी लक्ष्य को लेकर नहीं चल रहे हैं तो उसका वैसा प्रभाव नहीं भी पड़ सकता है।) परन्तु, काम तो मन में भी निवास करता है। हमें प्रेम करने के लियेकोई पात्र चाहिए और हमें हमसे प्रेम करने वाला भी कोई चाहिए। इसके बिना जीवन सूना रह जाता है। जिन बालकों को माता पिता का प्रेम नहीं मिला उनके जीवन से इस बात का प्रमाण मिलेगा। जिनको जीवन भर, यौवन में भी प्रेम नहीं मिला उनके जीवन की कलिका भी खिल नहीं पाती है। यौवन युग ही इस प्रेम के लिये सबसे प्रबल माँग करता है। जितना तीव्र, भीतर को हिला देने वाला, प्रेम यौवन में और प्रायशः[2] अपरलिंग के व्यक्तियों में परस्पर सम्भव है, वैसा शायद और कहीं नहीं। यह वही 'काम'-जीवनीशक्ति मनोमय क्षेत्र में कार्य करती है। इसी प्रेम के बूते दुनियाँ के अनेक महान् कार्य्य हुए हैं। यह प्रेम शक्ति का महान् प्रेरक है और उस विशुद्ध दिव्य प्रेम का पूर्व रूप है। इसी के आधार को लेकर

---

१ नाश २ अक्सर।

साहित्य निर्माण होता आया है और प्रायः कवियों के अमर गान इसी के उद्गार[1] हैं।

यह व्यक्ति के जीवन की एक माँग है। यह माँग सहज में पूरी होती है गृहस्थ जीवन में। इसके अलावा तो यह तीव्रता हमें प्रभु के भक्तों में, सन्तों की उत्कृष्ट[2] लगन में ही मिलती है। इस प्रेम के उद्भव से व्यक्ति के आन्तरिक क्षेत्र में सौम्यता आती है। उसका जीवन प्रवाह रूप हो जाता है। दबे हुये संस्कार बहुत मात्रा में सुलझ जाते हैं। जीवन के सोते फूट निकलते हैं। यह प्रेम व्यक्ति के विकास के लिये परम आवश्यक है। इस प्रकार की अनुभूति शारीरिक काम को प्रायः शान्त कर देती है। व्यक्ति अपने मनोमय क्षेत्र में शक्ति के विलास के कारण उस आनन्द की अनुभूति को करता है जिसके सामने शारीरिक सम्भोग-सुख कुछ गणनीय ही नहीं रहता।

आशा है अब यह समझ में आ गया होगा कि गृहस्थ जीवन-सुन्दर सौम्य गृहस्थ जीवन—किस प्रकार से व्यक्ति का सहायक हो सकता है काम के परिशोध में, और कारण बन सकता है उसके विकास की अग्रगति[3] का। अतः गृहस्थ की परिस्थिति को भय की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए।

कई प्रकार की भ्रमात्मक धारणायें[4] लोगों में फैली हैं। एक तो यह है कि सम्भोग गृहस्थी का कर्तव्य है; मानों उस

---

१ उबाल, उफान। २—उत्तम, अच्छी।

३—तरक्की। ४—गलत फहमी भ्रम मे डालने वाले विचार।

पर टैक्स लगा हो। काम-सम्भोग तो पारस्परिक प्रीति का परिचायक नहीं। इसके आधार पर प्रीति तो पाशविक प्रीति है जिसकी स्थिरता तो है ही नहीं। इसके आधार पर वैवाहिक जीवन पाशविक जीवन है। ईसाई भाइयों में इस प्रकार की धारणा प्रायः अधिक व्याप्त है, मुझे ऐसा मालूम पड़ा है। वास्तविक प्रेम जिसमें स्थिरता है और सच्चा आत्मदान है, तो आरम्भ होता है काम की आँधी के बह जाने पर।

स्त्री पुरुष संयोग सन्तानोत्पत्ति के लिये है। यह मैं ऊपर कह ही आया हूँ। गृहस्थ जीवन बहुत विशाल यज्ञ के लक्ष्य को लेकर चलता है।

कभी कभी कठिनाई हो सकती है, पति-पत्नि में से एक के आदर्शशून्य होने पर। जब दोनों में से एक कामोपभोग को भोजन सा समझने लगता है तो दूसरा आदर्शवान् पति अथवा पत्नि अपने को विचित्र परिस्थिति में पाता है। आदर्श उसको एक ओर खींचता है और उसका जीवन-संगी दूसरी ओर। न घबराने से, धैर्य्य पूर्वक, बुद्धि पूर्वक दूसरे में भी आदर्श के प्रदीप को जागृत करने के प्रयत्न से, यह समस्या हल हो सकती है। समय लगना आवश्यक है।

गृहस्थी के लिये भी परपुरुष अथवा परस्त्री के सम्पर्क में आना समाज में रहते हुये स्वाभाविक है। जीवन यात्रा में कई तरीक़े से लोगों का परस्पर मिलना होता है। एक आदर्श तो यह कहता है कि आँखें मूँद लो; देखना तक पाप है। परन्तु आज के समाज में मुझे न तो यह सम्भव दीखता है और न हितकर ही। अपनी दृष्टि को बदलो। यदि पुरुषों में हमें भाई बन्धु दीखने लगें तो

हमें विकार सता नहीं पायेगा और यदि हमें स्त्रियों में माता और बहिनों की भावना हो तो भी हमें विकार उद्विग्न न करेंगे समीपता से भागना बीमारी को दबाना है। डरना अपने विकास को रोकना है। जीवन क्रम में जहाँ स्त्रियों अथवा पुरुषों के सम्पर्क का अवसर मिले उसे ठीक ठीक निभाने की चेष्टा करनी ही हमारे लिये और समाज के लिये हितकर है। इसके साथ ही साथ किसी भी प्रकार के सम्पर्कों की, मिलने जुलने की अपनी ओर से चाह न रखनी चाहिए। जीवन यात्रा में हमारे लिये जो हितकर होगा आयेगा ही। हमारे संस्कार सम्पर्कों से कई बार उमड़ सकते हैं, परन्तु आदर्श को सामने स्फुट बनाये रखने से, सतत जागरुक* रहने से, मन का भी शोधन हो जायेगा। वही परिस्थिति बाद में हम में विकार पैदा करने का सामर्थ्य न रखेंगी। हम भीतरी स्थिरता में स्थापित हो जायेंगे। यदि जगज्जननी माता के सामीप्य की प्रतीति सदैव और विशेषकर इस प्रकार की परिस्थितियों में जहाँ मनोविकार उत्पन्न होते हैं, हो सके तो यह सारा कार्य और भी सुगम हो जायेगा।

हमारा लक्ष्य है स्त्री-पुरुष भेद की प्रतीति से परे हो जाना। यह लक्ष्य विभिन्न परिस्थितियों में से होकर, विभिन्न अनुभूतियों और तरह तरह के सम्पर्कों के प्रभाव से ही प्राप्त हो सकेगा। अतः व्यक्ति को निर्भय होकर अपने कदम बढ़ाते चले जाना होगा। यदि व्यक्ति 'माँ' पर निर्भर रहेगा तो वह सदैव साथ देगी ही।

---

* सचेत चौकन्ना

अवैवहिक जीवन को स्वीकार करने वाला व्यक्ति तो वास्तव में प्रभु के प्रति अग्नि सी लगन को पैदा करके ही कामशोधन कर सकता है। प्रभु की कृपा उसको इस काम क्षेत्र से पार कर देती है। उस पर निर्भर रहना, अपने को उस पर छोड़ देना, यही एक मात्र पढ़ने योग्य पाठ है। धैर्य्य ही है एक मात्र पाथेय।

हमारा जीवन क्रम

हम क्या खाते हैं ? कितना खाते हैं ? कब कब खाते हैं ? हमारा रहन सहन-सारे जीवन की अवस्था क्या है ? यह प्रश्न कामशोधन की समस्या के साथ बहुत ही घना सम्बन्ध रखते हैं। इन पर विचार करना आवश्यक है।

भोजन शारीरिक

हमारी जननेन्द्रिय और जिह्वा का बहुत गहरा नाता है। जितनी हमारी जिह्वा वश में है उतना ही काम भी हमारे बश में है, ऐसा कहा जाता है। हर व्यक्ति में ऐसा है यह न कहते हुये भी इनका गहरा प्रभाव तो मानना ही पड़ता है। अतः यदि हम अपने साधन में अग्रसर होना चाहते हैं, अपने गन्तव्य लक्ष्य को पाना चाहते हैं तो हमें अपने खान पान की समुचित कर देना होगा।

हमारा खाना यौवन के उपरान्त तो शरीर को सबल बनाये रखने, और जो टूट फूट काम करने में होती है उसे पूरा करने के लिये ही होना चाहिए। वह मज़ा लेने के लिये न होना चाहिए। जब हम जीने के लिये न खाकर, खाने के लिये जीने लगते हैं तो जिह्वा के द्वारा व्यभिचार होने लगता है। हम अधिक खाते हैं। स्वाद की खातिर भोजन को बिगाड़ते हैं, जिससे पाचन क्रिया में विकार और फिर भोजन से

बनने वाले रसों में विकार होता हैं। वह विकार का कारण होती है।

भोजन की मात्रा का ठीक बोध हमें स्वयं ही हो सकता है। शरीर की आवश्यकता से ९९ प्रतिशत लोग अधिक खाते हैं, यदि मिल सके तो, मैं ऐसा समझता हूँ। हमारी भोजन की मात्रा का सम्बन्ध जिस प्रकार का और जितना परिश्रम हम रोज करते हैं उससे रहना चाहिए।

संतुलित* भोजन जिसमें साग-पात की मात्रा काफी हो शरीर के लिये ठीक है। मिर्च मसाले तथा दूसरे उत्तेजक तथा मादक पदार्थों के लिये हमारे जीवन में स्थान नहीं हो सकता। शारीरिक स्वास्थ्य हमारा आदर्श होना चाहिए। इस विषय में अधिक जानकारी के लिये प्राकृतिक चिकित्सा तथा भोजन सम्बन्धी पुस्तकें देखनी चाहिए। 'आदर्श भोजन (लक्ष्मण नारायण चौधरी कृत) उपयोगी पुस्तक है। श्री जानकी शरण वर्मा जी की पुस्तक "रोगों की अचूक चिकित्सा" भी हितकर सिद्ध होगी Henry Benjamin की पुस्तक ' Our diet in Health and Disease भी उपयोगी है।

हमारा भोजन ऐसा होना चाहिए कि कब्ज (कोष्ठ बद्धता) की शिकायत न रहने पाये। कोष्ठ बद्धता काम सम्बन्धी विकारों में एक प्रधान कारण है और प्रायः इसके साथ ही जाने वाली बदहज्मी। ठीक भोजन ही इसका समुचित तथा स्थायी इलाज है।

---

१ जिसमें हर एक आवश्यक चीज़ ठीक मात्रा में हो। Balanced

मानसिक आहार

मानसिक आहार के बारे में भी मुझे यहीं पर दो शब्द कह देने चाहिए। जहाँ पर शारीरिक विकार हमारी शुक्र ग्रन्थियों को उत्तेजित कर देते हैं वहाँ पर हमारा मानसिक आहार, देखना, सुनना और पढ़ना भी न केवल हमारे मन में विकारों को उभाड़ देता है, हमारे तन को भी प्रभावित करता है। कामभावों से पूर्ण तनमन को भी काम से परिपूर्ण कर देता हैं, क्योंकि तन तथा मन का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है।

जो व्यक्ति कामशोधन के लक्ष्य तक पहुँचना चाहता है वह अपने में काम को उत्तेजित करना कभी न चाहेगा। क्योंकि जितना वह उत्तेजित होगा उतनी ही उसकी समस्या बढ़ती चली जायेगी। आज का सभ्य जीवन ऐसा हो रहा है कि काम-भाव छोटे पन में ही जागृत हो जाते हैं। परन्तु फिर भी ऐसे भावों को जागृत करने वाले दृश्यों, तस्वीरों, साहित्य तथा वार्तालायप से बचना ही चाहिए। मैं डरने के लिये नहीं कह रहा हूँ। यदि हमें ऐसी परिस्थिति में से होकर गुजरना पड़ता है तो हम निर्भय हो कर, उसे भी आत्म निरीक्षण का एक सुवर्ण अवसर मान कर पार करें, परन्तु अपने आप ऐसे अवसरों के लिये चुनौती न दें। माँ हमारे हित में ऐसे अवसर आवश्यक होंगे तो लायेगी, न हितकर होंगे तो नहीं लायेगी।

परिश्रम

खाली मन शैतान का घर होता है; और खाली तन भी उससे कम नहीं। चेष्टा यही होनी चाहिए कि हाथ कुछ किया करें और मन कुछ लक्ष्य सामने रख कर सोचा करे। शारीरिक

परिश्रम तो मानसिक स्वास्थ्य के लिये मैं परम आवश्यक समझता हूँ। शरीर में खून का अच्छी तरह से दौड़ जाना हमारे मानसिक स्वास्थ्य के लिय भी बहुत हितकर है। हठयोग के आसनादि यदि ढग से किये जायँ तो वह न केवल शरीर के लिये हितकर है, वह प्राण को संयमित करने में और ज्ञान तन्तु-संस्थान में एक संतुलन लाने में विशेष सहायक होते हैं, जिसस संयम आसान हो जाता है।

शारीरिक परिश्रम तो दिन भर न हो सकता है न करना ही चाहिए। अधिक व्यायाम जिससे व्यक्ति शरीर में ही निवास करने लगता है, और जिससे आहार बहुत बढ़ जाता है, संयम की दृष्टि मे हितकर नहीं। मैंने यौवन में खूब व्यायाम करन वाले खिलाड़ियों' को शरीर तथा मन में रोग गुप्त देखा है, विशेष कर एक अवधि बीत जाने पर। मध्यम पथ ही राज मार्ग है।

मन को तो खाली छोड़ना शैतान को न्यौता देना है। हमारे सामने कोई लक्ष्य रहना ही चाहिए। सुन्दर भाव और ऊँचे विचार हम में गूँजा करें और ज्यों ही मन को खाली पायें वह आ प्रकट हों; ऐसा स्वभाव बना लेना चाहिए। यह तभी होगा जब हम कुछ समय तथा शक्ति इस प्रकार के भावों और विचारों को पुष्ट करने में (स्वाध्यादि द्वारा) नित्य लगायेंगे अन्यथा यह एक स्वप्न मात्र रह जयेगा।

नियमितता :—*

जीवनक्रम यथा साध्य$ नियमित कर डालना भी आवश्यक है। जिन व्यक्तियों के न खाने का समय होता है और न सोने

---

*काय दे की पाबन्दी। $जहाँ तक सध सके।

का, उनका तन भी स्वस्थ नहीं रह पाता और न मन ही। हमारी परिस्थितियों की सीमायें होती हैं, परन्तु उन सीमाओं के रहते भी एक प्रकार की नियमितता लाई जा सकती है। अपने जीवन क्रम में। इतना करणीय ही है। खाने का समय, मनोविनोद आदि का समय और अपने भजन-साधन-स्वाध्याय का समय नियत करने का यत्न करना चाहिए

रात्रि का भोजन जल्दी ही कर लेना उचित है।वह हल्का हो। सोने से पूर्व मानसिक आहार-विचार तथा अध्ययन, ऊँचे से ऊँचा। उसका प्रभाव हमारे जीवन पर बहुत गहरा पड़ता है। जल्दी सोना तथा जल्दी जगना हितकर होता है।

यदि हम अपने जीवन को नियमितता के सूत्र में पिरो पायेंगे तो उससे हमें बहुत लाभ होगा, परेशानी मिटेगी और समय तथा शक्ति का बहुत अच्छा उपयोग होगा। हम दूसरों की सहायता भी अधिक कर पायेंगे।

रहने का स्थान

हम जितना अधिक स्वच्छ वायु में रहपायेंगे और प्रकृति के सम्पर्क में अपने को रख पायेंगे उतना ही अच्छा होगा। वायु हमारा आहार है। वह भोजन तथा जल से भी अत्यधिक आवश्यक है। इस पर हमारे तन तथा मन का निर्माण एक बड़ी मात्रा में निर्भर करता है। अतः खुली वायु से प्रेम करना लाभ कारी है। प्रकृति की मनोरमता मन को भी मनोरम कर डालती

है। गृहस्थी लोगों को पति और पत्नी को एक ही कमरे में ठीक नहीं रहता है। अलग अलग कमरे में सोना ही उचित है। *

जीवन क्रम के बारे में जो कुछ ऊपर लिखा गया है वह संकेत मात्र है। साधक को तो स्वयं जागरूक रहते हुये अध्ययन करना होगा कि क्या उसके लिये हितकर और क्या अहित कर है।

हमें अपना लक्ष्य सतत अपने सामने रखना होगा। उसी लक्ष्य के अनुसार अपना जीवन-क्रम ढाल लेना होगा। जो संगीत, जो मनोविनोद क्लब अथवा सिनेमा, जो भी अध्ययन हमारे लक्ष्य के लिये बाधा रूप हो उसे अपने जीवन में स्थान न देना होगा।

घोर तपस्यामय जीवन भी सौम्प मार्ग नहीं है। उसमें प्रतिक्रिया की सम्भावना बनी रहती है और संस्कारों के बलात् दमन से जीवन में रूखापन आ जाता है। संयम हमारी विचार शीलता तथा आदर्श बादिता[1] के कारण भीतर से पैदा होना चाहिए। बाहिर से व्रत ले ले कर पैदा किया गया संयम उस सौम्यता का नहीं रहने देता। हमारा लक्ष्य संयम को सहज रूप देना है जिससे वह बोध भी न रह पाये कि हम कोई अपने पर संयम कर रहे हैं। यह भी याद रखना होगा कि संयम हमारी हृदय हीनता का कारण न बन जाय। हमारे प्रेम का स्रोत और पनपना चाहिए ; संयम से कहीं वह सूख न जाय।

---

*महात्मा गान्धी जी के लेखों का संग्रह जो 'अनीति की राह पर' नाम से प्रकाशित है वह लाभकारी पुस्तक है। [1]आदर्श के अनुसार चलना।

मनोविनोद से मानसिक शैथिल्य* होता है। यह जीवन की बड़ी आवश्यकता है। हंसना और प्रसन्न चित्त रहना बड़ा ज़रूरी है।

---

* ढिलाई

दैवी सहाय्य १

कामवासना का परिशोधन महान् कार्य्य है। मानव विकास में यह कितना महत्व रखता है हम ने यह ऊपर देख ही लिया है। अध्यात्म विकास के साथ साथ यह किस तरह होता चला जाता है यह भी समझा है।

पुराणों की कथायें और इतिहास दृष्टांत तो व्यक्ति को भय-भीत कर देते हैं। पौराणिक ऋषियों ने हजारों साल तपस्या की तिस पर भी एक अप्सरा के दर्शन मात्र से कामवासना जग गई, अपने को न सँभाल सके और काम के शिकार हो गये। औचित्य अनौचित्य का विचार भी तो उनमें नहीं दिखाई पड़ता। यदि वह पारदृष्टा२ ऋषि इस प्रकार से पतित हो सकते हैं तो हम जैसे मानवों का क्या कहना ? ऐसा सोच कर एक वार तो मनुष्य का दिल बठ जाता हैं। 'यह काम' असम्भव ही है। यह वास्तव में मानव के लिये असम्भव ही है।' ऐसा सोचा जाने लगता है।

इसके प्रतिकूल हमें प्रभु के भक्तों के दृष्टांत भी मिलते हैं, ऊँचे ज्ञानियों के भी जीवनवृत्त३ मिलते हैं जो स्त्री-पुरुष भेद से

---

१ देवता से मिलने वाली सहायता। दूर अथवा छिपी हुई बात को जानने वाला।

२ दूर तथा छिपी हुई बात को जानने वाला। ३ जीवन का वर्णन।

सर्वथा उठ चुके थे। मध्ययुग के सन्त-कबीर आदि गृहस्थी होते हुये भी बहुत ऊँचे थे। उनकी वाणी ही बड़ा प्रमाण है इस बात का भीष्म पितामह ब्रह्मचारी थे। शुकदेव ब्रह्मचारी थे। स्वामी दयानन्द ब्रह्मचारी थे। और वह पूज्य ठाकुर श्री रामकृष्ण परमहंस देव तो अद्भुत ही थे। पत्नि के शारीरिक सान्निध्य में सोने पर भी कामवासना से अपरिभूत थे। बाढ़ न होते हुये भी वह बाढ़ों से परे थे। यदि यह सम्भव था उनके लिये तो यह सम्भव है हमारे लिये भी। उत्साहहीनता पुरुषार्थ को खा डालती है। सफलता की सम्भावना को ही निगल लेती है।

दो ही तो साधन हैं कामवासना के परिशोध के अपना प्रयत्न और प्रभु की सहायता। और दोनों आवश्यक हैं। अपना प्रयत्न न करोगे तो प्रभु भी सहायता को ग्रहण कैसे कर पावोगे ? उसकी सहायता तुम्हारे लिये न होगी। अपने प्रयत्न पर ही निर्भर रहोगे तो सम्भव है भीतर गर्व पनपेगा और उस छिद्र में से अनेक दुर्बलतायें अपना अड्डा जमा लेगीं, अन्य शत्रु आक्रमण कर देंगे। उस गर्व के रोग को दूर करने के लिये भी परम कृपामय प्रभु को तुम्हें पतन का दृश्य दिखाना होगा। 'अहं' तो काम से भी अधिक गहरा रोग है।

ठीक रास्ता है अपना प्रयत्न और प्रभु पर निर्भरता। उसी का आश्रय—केवल मात्र उसी का, अपने प्रयत्न का नहीं। प्रयत्न तो करना ही है। वह, कर्त्तव्य है। इस प्रकार की मनोवृत्ति मनुष्य को प्रभु के समीप लेती चली जाती है। उसमें कृपामयी महाशक्ति, जगन्माता का अवतरण होने लगता है; वह व्यक्ति के मन बुद्धि, प्राण में प्रवाहित होकर उनको धोती चली जाती

है। नूतन चैतन्य का संचार कर देता है। वह नूतन चेतन्य व्यक्ति का रूपान्तर कर देती है। वहाँ काम की गुंजाइश ही नहीं रहती। काम की जगह प्रेम जग उठता है।

उस पर निर्भरता और सदैव उसके समीप रहने की चेष्टा। यह दोनों ही आवश्यक हैं। इनमें से एक का अभाव भी उसकी कृपा के अवतरण जगन्माता के आश्रय१ को दूर खींच लेगा। और उसके लिये चाहिए अटल विश्वास प्रभु में। 'वह हमारे परम हित हैं—पितु-मातु सहायक स्वामी सखा हैं। हमारे हित को हम से अधिक जानते हैं उसके विधान२ से ही हमारी परिस्थितियों का निर्णय३ होता है।

और यह सब किस लिये? इसलिए नहीं कि हम कामवासना से युक्त होकर सुख को लाभ कर सकें। ऐसा करना तो स्वर्थ की सिद्धि के लिये प्रभु को यन्त्र बनाना होगा। प्रभु तो प्रभु ही रहेंगे। वह यन्त्र न बनेंगे। यह सभी कुछ उसका हो जाने के लिये हो उससे युक्त हो जाने के लिये हो, उसके कार्य के लिये, उसका यन्त्र बन जाने को हो। तभी निर्भरता फली-भूत होती है। कामवासना का परिशोध तो फिर प्रभु का कृत्य हो जायेगा। तुम्हारी रक्षा तो जगज्जननी४ महाशक्ति अपने लिये करे आपका और उसका आन्तर्तम्य५ होगा।

परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि व्यक्ति जीवनक्रम में जो परिवर्तन कर सकता है उसकी चेष्टा न करे। इसका यह

---

१ भरोसा। २ नियम कायदा। ३ फैसला।
४ संसार को पैदा करने वाली१। ५ भीतरी एकता।

अर्थ नहीं कि व्यक्ति जागरूक न रहे--साधन शील न रहे। वह सभी कुछ करे परन्तु उसके अर्पण करता चला जाये।

प्रभु के सामीप्य को अनुभव करने के लिये, उसकी कृपामयी महाशक्ति के प्रवाह को प्राप्त करने के लिये 'नाम' का स्मरण, जप, ध्यान अद्भुत साधन है। नाम नामी से युक्त कर देता है। प्रभु के समीप होने की भावना को, उसके हो जाने की लगन नाम में अनुस्पूत कर दीजिएगा। नाम के द्वारा आप नामी परमप्रभु की समीपता को अनुभव करने लगेंगे। और वह समीपता आपको काम के क्षेत्र से ऊपर उठा देगी, निर्भय कर देगी।

परन्तु थोड़ा बहुत स्मरण करने से यह काम नहीं होने का। नाम को तो सतत संगी बनाना होगा, खाने पीने का, उठने बैठने का, सोने जगने का, बात चीत का, काय कलाप[१] का—पल पल का उसको साथी बना लेना होगा। हृदय की वीणा से नाम की नित्य नूतन रसभरी झंकार निकलती ही रहे। पहिले सम्भवतः यह कार्य नीरस लगे, फिर सरस हो जायेगा और फिर छोड़े न छूए पायेगा। नाम आपको पकड़ लेगा। प्रभु की समीपता के प्रतीति सहज होने लगेगी। इतना होते ही आप देखेंगे कि काम का प्रभाव आप पर बहुत कम हो गया है। आप काम के चेरे नहीं रहे, स्वामी होते जा रहे है।

कौन सा नाम? प्रभु के अनेक हैं। हृदय ही इसका प्राथमिक[२] चुनाव करेगा। जो रुचे उसे ही पकड़ियेगा और फिर यदि कोई स्वयं शान्त हुआ व्यक्ति बताने वाला मिल जाय तो उसको बाँह

---

१ पिरोया हुआ, जुड़ा हुआ। २ काम काज। ३ पहिला।

पकड़ावो। यह सौभाग्य होगा। समस्या और भी सुलभ[1] हो जायगी।

उस परम प्रभु को माँ रूप से ग्रहण कर यदि उसकी गोदी में रह सकते हो, यदि स्त्री में परम शक्ति को पहचानने लग गये हो तो कृपामय प्रभु माँ होकर अपने बरद हस्त से तुम्हें धन्य कर देंगे। तुम्हारी ज़िम्मेदारी ही समाप्त हो जायगी।

---

१ आसान

(६)

व्यावहारिक समस्या

जब वास्तव में काम का आवेग होता है तो बुद्धि काम करना छोड़ देती है। पुरानी सोची हुई बातें, किये हुये निश्चय और अनुभूतियाँ एक दम से लय हो जाते हैं। ग्राहग्रस्त[१] सा व्यक्ति बलात् सम्भोग में प्रवृत्ति होता है ठीक पागल हुआ सा! सम्भोग की प्रतिक्रिया से शान्ति होती है--वह भूत उतर जाता है। फिर विचार का उदय होता है, धीरे धीरे स्मृति जगती है, पुराने किये हुये निश्चयों और निमाण किए आदर्श की याद हो आती है। व्यक्ति अपनी गलती को समझता है। आत्मग्लानि होने लगती है। व्यक्ति अपने को धिक्कारता है। कुछ दिनों के उपरान्त फिर वही काम का आवेग और वही घटना आद्योपान्त[२] घट जाती है। व्यक्ति चाहता है कि वह काम का शिकार न हो सम्भोग में अपने को न खोये, परन्तु वह रह नहीं सकता। वह परवशता प्रतीत करता है।

इस परवशता पर विजय पाने का रास्ता दिखाना वास्तव में व्यक्ति की सहायता करना है।

कहा जाता है व्रत लो। व्रत से संयम होगा। परन्तु यह सदैव सफल होने वाला उपाय नहीं। असफलता आत्मविश्वास का हनन

---

१ विवश, मजबूर। २ शुरु से आखिर तक।

कर देगी, फिर उठना ही असम्भव हो जायेगा। सफल हुआ व्रत भी यदि समुचित बौद्धिक,१ आधार को लेकर नहीं चला तो दमन का कारण होगा। उसका परिणाम भला न होगा।

शारीरिक काम कर विजय पाने के लिये हमें खूब सोच समझ कर चलना होगा।

हमारी विजय का आधार आत्म विश्वास होना चाहिए। इसे जागृत करने की चेष्टा करनी चाहिए। अपनी विफलताओं को महत्व न देना हितकर होगा। अपने को समुचित २ उद्बोधन देने से भी आत्म-विश्वास जगने लगता है। जो मनुष्य ने किया है, वह मैं भी कर सकता हूँ, करूंगा।"

दूसरी आवश्यकता समुचित बुद्धि हैं। संयम की क्या आवश्यकता है ? हमारे जीवन में इसका क्या स्थान हैं? हमारे आदर्श से इसका क्या सम्बन्ध है? भोग क्यों न करें? यह सभी और बहुत सी बातें मस्तिष्क में इतनी स्पष्ट हो जानी चाहिए, कि संशय की सम्भावना हीन हो। यह काम एक दम न होगा। पढ़ना होगा, सोचना होगा, अपने अनुभवों से भी सीखना होगा। धीरे धीरे बुद्धि में स्थिरता आ पायेगी।

इसी प्रसंग में आवश्यकता है एक सजीव उज्वल तथा ऊँचे आदर्श की जिसके लिये हम जीवें। इस प्रकार के आदर्श के बिना मनुष्य में अपने पर काबू पाने का सामर्थ्य आना और उसका बना रहना असम्भव है। आदर्श का निर्माण भी धीरे धीरे हो पाता है। इसके लिये भी समुचित अध्ययन विचारादि आवश्यक है। सत्संग खूब हितकर हो सकता है।

---

१ विचार सम्बन्धी, दिमागी। २ जगाना, चेतावनी।

आदर्श के प्रति प्रीति हमारे भावों को जागृत करेगी। हमारे भाव हमारी संकल्प शक्ति को प्रेरित करेंगे। व्यक्ति के भीतर से—गहरे में से यह निश्चय होगा कि इस आदर्श को पाना है। इस आदर्श को प्राप्त करने के लिये जो कुछ आवश्यक है सो करूँगा। यही संकल्प संयम के बारे में भी लागू होगा। भीतर से काम से ऊपर उठ जाने की उत्कंठा१ होगी।

समुचित बुद्धि, समुचित प्रबल भाव और गम्भीर संकल्प के होने पर संयम की समस्या सहज में हल होने लगेगी। पड़े हुये स्वाभाव के कारण जो देर लगेगी, सो लगेगी ही उसके लिये अधीरता बेकार है।

ऐसी स्थिति में व्यक्ति को जागरूक रहना होगा। बाहिर देखने का तो हमें स्वभाव है, भीतर देखना भी सीखना होगा। भावों के सतत बदलने वाले चित्रपट पर दृष्टि रखनी होगी। रागद्वेष, काम क्रोधादि की उठती हुई तरंगों को पहिचानना सीखना होगा। प्रत्येक भाव बीज रूप में प्रकट होता है; तत्सम्बन्धी२ संस्कारों को पाकर अंकुरित३ होता है। वातावरण४ से उसी प्रकार की तरंगों को पाकर बढ़ जाता है और देखते ही देखते इतना प्रबल हो जाता है कि हम उसके वशीभूत हो जाते हैं। यदि जब वह प्रकट मात्र हो उसी समय हम उसे पहिचान लें और यह जान लें कि यह चोर है, हमारा शत्रु है, हमारे जीवन में इसके लिये स्थान नहीं है, तो वह पनप न पायेगा। जब तक वह बीज रूप होता है तब तक व्यक्ति की बुद्धि काम

---

१ प्रबल इच्छा। २ उससे सम्बंध रखने वाले। ३फूटना पनपना। ४ आसपास की परिस्थिति

कर सकती है और उस समय ही बुद्धि के द्वारा और उसके आश्रित[1] संकल्प के द्वारा हम सहज में उसे परास्त कर सकते हैं।

काम से व्यवहार करने में यह भली भाँति जान लेना चाहिए कि काम के द्वारा प्राण की परितृप्ति होती है हमारी परितृप्ति नहीं होती। कामलिप्सा[2] वास्तव में प्राण की लिप्सा है। हम तो भ्रम में ही इसे अपनी लिप्सा और अपनी तृप्ति समझते हैं। हमारी वास्तविक स्थित तो प्राण से-अतएव काम से-बहुत ऊपर है।

काम के प्रकट होने पर यदि हम यह याद रखेंगे कि यह तो प्राण की लिप्सा है, और यह जानेंगे कि यह हमारे लिये अहित-कर है तो वह काम का वेग क्षीण हो जायेगा। किसी दूसरे की तृप्ति के लिये कोन अपने को क्षीण करें।

N.B:—इस विषय में अधिक जानने के लिये लेखक का 'आध्यात्मिक साधन' भाग २, और 'कैसे बदलें' देखिएगा।

---

१ सहारे पर रहने वाला। २ काम सम्भोग का लोभ

जिम्मेदार लोगों से !

आज जिस वातावरण में बचपन बीतता है और जो वातावरण स्कूल तथा कालिजों में है उसके प्रभाव से विद्यार्थी अछूते नहीं रह पाते। इसमें विस्मय नहीं। कालिज में आते आते यौवन का समावेश होता है। स्कूल का नियंत्रण भी नहीं रहता। अतः कामवासना तथा कुचेष्टायें प्रकट होने लगती हैं। लड़कियों का सम्पर्क जो को-एजूकेशन (सम्मिलित शिक्षण) के कारण होता है वातावरण को और भी उद्दीप्त[1] कर देता है। सिनेमा की प्रेम गाथायें तथा उपन्यासों के प्रेम भरे कथानक और प्रेम की कवितायें जो पुस्तकों में पढ़ने को मिलती हैं—सभी मिलकर यदि हमारे युवकों को कामवासना का परिचय देने के लिये प्रेरित करें तो कोई आश्चर्य नहीं। पत्र और पत्रिकाओं में निकलने वाले विज्ञापन, सिनेमों की नायिकाओं की चर्चा, और रेडियो के प्रेम भरे गीत भी उसी वृत्ति को उद्दीप्त करते हैं। वातावरण सभी ओर से काम संस्कारों से पूर्ण होता है। शिक्षक भी प्रायः इसी प्रकार के वातावरण में पले हुये रहते हैं उनसे किसी ऊँची बात की एक दम आशा करना दुराशामात्र है।

एक ओर तो कामवासना को उभाड़ने के लिये इतना मसाला और दूसरी ओर इस विषय में समुचित शिक्षण का नितान्त अभाव! किसी आदर्श को भी तो युवकों के सामने रखने का

---

[1] उभाड़ा हुआ

और उनके द्वारा उसके ग्राह्य[1] बनाये जाने का प्रयत्न नहीं होता। न माता-पिता करते हैं और न ही शिक्षास्थलों में होता है। ऐसी परिस्थिति में यदि युवक बह जाँय तो युवकों का ही दोष नहीं। समाज की व्यवस्था[2] और उसके लिये जिम्मेदार लोग युवकों से अधिक दोषी हैं, मैं यह समझता हूँ।

तिस पर चारों ओर आवाज उठती है। आज का युवक नैतिकता से दूर हो रहा है। उन पर कामुकता[3] का दोष लगाया जाता है। कहा जाता है वह किसी की बात सुनने के लिये ही तैयार नहीं है। धर्म तथा संस्कृति[4] पर से उसकी श्रद्धा उठ गई है। वह आज के पाश्चात्य वादों और पाश्चात्य संस्कृति के प्रवाह में बहा जा रहा है। पश्चिम का प्रभाव होना स्वाभाविक ही है। जब पश्चिमी लोग हमारे शासक रहे है, पाश्चात्य संस्कृति हमारे शासकों की संस्कृति रही है, पाश्चात्य साहित्य हमें पढ़ाया जाता रहा है, तो उस प्रभाव से बिना किसी प्रयत्न के कैसे बचा जा सके ?

पहिली बात तो मुझे यह पूछनी है कि क्या आपके अपने दिल में उस पुरातन आदर्श के लिये आदर है ? क्या आपने उसे अपने गार्हस्थ्य[5] जीवन में पालन करने की चेष्टा की है ? दूसरा, क्या आपने उस आदर्श को बुद्धि पूर्वक अपनी सन्तान के आगे रक्खा है ? ब्रह्मचर्य के महत्व को व्यवहारिक जीवन में घटित करके उनके आगे प्रकट करने की चेष्टा की है ? क्या

---

१ अपनाने के योग्य। २ प्रबन्ध। ३ काम की इच्छा। ४ सभ्यता। ५ ग्रहस्थी के।

उनके जीवन में विलासिता१ को आपने स्वयं लाड़ चाव म आकर नहीं बढ़ाया है ?

वस्तुतः२ सत्य तो यही है कि हम केवल दोष देते हैं और उतने से ही समझते हैं कि हमने अपना कर्तव्य कर लिया। केवल मात्र दोष देने से लाभ तो कुछ होता नहीं, उलटी एक प्रतिक्रिया की भावना युवकों में जग जाती है और वह हमारी अच्छी बात भी सुनने को तैय्यार नहीं होते।

आवश्यकता है कि युवक के दृष्टि कोण से उसकी परिस्थिति को समझें। उसका व्यवहार ऐसा है तो क्यों है ? यदि हम सहानुभूति पूर्वक सोचें तो समझ में आयेगा कि बहुत सम्भव है कि जिस परिस्थिति में से आज का युवक होकर गुजरता है, जिन प्रभावों को ग्रहण करता है उसमें हम भी होते तो हम उससे अच्छा व्यवहार न कर पाते। इसके प्रतिवाद३ वह गिने चुने व्यक्ति हैं, जिन्होंने अपने को परिस्थिति से बलवान जान लिया है। दोष देना बिल्कुल लाभकारी नहीं है। यह वास्तव में एक रोग के लक्षण हैं जो युवकों में प्रकट हो रहे हैं। उसके कारणों को समझ कर उसका इलाज करना चाहिए।

ऊपर लिखी परिस्थिति के कारण, जीवन क्रम के अस्तव्यस्त४ होने के कारण, भोजन में असंयम के कारण कामवासना स्कूल छोड़ते छोड़ते, और कितनों में तो स्कूल में ही, तीव्र रूप से जग जाती है। स्कूल में लड़कियों का सम्पर्क न रहने के कारण, अकस्मात् उनका सम्पर्क और उस अवस्था में, साथ ही साथ

---

१ आराम तलबी । २ वास्तव में; दर असल ३ खंडन करने वाले; विरोध में। ४ नष्ट, बरबाद।

नियन्त्रण का एकदम अभाव स्कूल से कालिज जाने पर, युवक के भीतर एक आँधी ले आता है। उस आँधी को विरले समझदार-समुचित प्रकार की शिक्षा पाये विद्यार्थी दबा पाते हैं, अथवा उस शक्ति को किसी दूसरी ओर लगा सकते हैं। परन्तु अधिकांश१ तो इस आँधी द्वारा अन्धे हो जाते हैं। यह काम का वेगवान् उद्भव२ वास्तव में युवकों की एक समस्या है। यदि हम इसका इलाज कर सकते हैं तो हम उनको बदल सकते हैं, बिना दोषा-रोपण३ के ही।

इसका इलाज असम्भव कदापि नहीं। पहिली आवश्यकता है शक्ति के लिये नये नये और अत्यन्त चित्ताकर्षक४ रास्तों को खोल देना। परतंत्रता के प्रभाव से शिक्षा का संसार बहुत प्रभावित हुआ है। शिक्षा में शिक्षा के लिये रुचि का नितान्त अभाव ही दीखता है शिक्षालयों में, शिक्षकों तथा शिक्षितों में। यदि विद्योपार्जन५ में रुचि खूब जगाई जा सके तो काम सम्बन्धी समस्यायें बहुत कुछ हल हो सकती हैं। शिक्षा के अतिरिक्त आत्मनिर्माण६ सम्बन्धी प्रोगाम, खेलों तथा ललित कलाओं में और सामाजिक-निर्माण क्षेत्रों में रुचि जगानी बड़ी आवश्यक है। केवल पुस्तकें ही हमारे युवकों के लिये काफ़ी नहीं हैं। जितनी अतिरिक्त क्रिया के क्षेत्र खोले जा सकें और उनमें युवकों को रुचिवान किया जा सके उतना ही हितकर होगा युवकों के निर्माण की दृष्टि से, और इस समस्या के हल की दृष्टि से।

---

१. अधिक संख्या में; ज्यादातर। २ पैदाइश, उभार। ३ दोष लगाना। ४ चित्त को खीचने वाले। ५ विद्या का प्राप्त करना-पढ़ना। ६ अपना गठन।

सांस्कृतिक[1] चर्चा जिसके द्वारा जीवन की ऊँची बातों को आदर्शों तथा आदर्शवान् व्यक्तियों के चरित्रों को उन के सामने रक्खा जा सके परमावश्यक है। यह चर्चा किसी व्यक्ति के जीवन के आधार पर हो सकती है और स्वतंत्र भी। परन्तु हम जितना अपने युवकों को जीवन के गंभीर मौलिक[2] विषयों पर स्वयं सोचने तथा विचार प्रकट करने की प्रेरणा करेंगे उतनी ही उनकी रुचि पनपेगी और यह चल कर हितकर सिद्ध होगी। सांस्कृतिक[3] समाजों की स्थापना शिक्षालयों में, तथा अन्यत्र, समाज के वातावरण को तथा विद्यार्थी के हृदय और मस्तिष्क को बदल सकती है। इस प्रकार के समाज प्रत्येक स्कूल तथा कालेज के सबसे जीवन पूर्ण स्थल होने चाहिए। इनको रुचिकर बनाने के लिये कई उपाय सोचे जा सकते हैं। दैनिक जीवन की व्यावहारिक समस्यायें, सामाजिक तथा राष्ट्रीय समस्यायें, सभी पर विचार परमावश्यक हैं। इसी से हम अच्छे नागरिक पैदा कर सकते हैं। केवल मात्र परीक्षा के विषय तो जीवन को बहुत प्रभावित नहीं कर पाते। ऐसी समाजों की आवश्यकता है प्रत्येक नगर नगर में और गाँव २ में। वह एक और अधिक विशाल दृष्टि कोण को लेकर इस जनशिक्षण[4] के कार्य को कर सकते हैं।

यहाँ पर मुझे यह कह देना चाहिए कि बात पुरानी है, हमारे पूर्वजों ने उसे आदर की दृष्टि से देखा है, केवल इसलिए हमें उसका अनुकरण करते चले जाना चाहिए, यह विश्वासान्धता[5]

---

१ सभ्यता की। २ बुनियादी। ३ संस्कृति अथवा सभ्यता का विस्तार करने वाले। ४ जनसाधारण की शिक्षा। ५ विश्व के कारण बुराइयों को देखकर भी न दे

है। पुरानी है केवल इसलिए हमें उसे ठुकराना भी नहीं चाहिए। केवल इसलिए ठुकराना भी उतनी ही विश्वासान्धता है। अपने वर्तमान ज्ञान को लेकर, पुराने आदर्श को सहानुभूतिपूर्वक समझने की चेष्टा करनी चाहिए। यदि वह आज भी व्यक्ति तथा समाज को आगे ले जाने वाला समझ में आये तो उसे आज के दैनिक जीवन के अनुकूल रूप में स्वीकार करना चाहिए और उसे दूसरों के सामने पेश करना चाहिए। अग्राह्य[1] हो तो हमें उसके परित्याग के लिये भी तत्पर रहना चाहिए। इस प्रकार के विचारों की उदारता के आधार पर ही समुचित शिक्षण सम्भव है। कोरे प्रमाणवाद के दिन लद चुके हैं।

रेडियो, सिनेमा, तथा प्रेस शिक्षा के बहुत बड़े साधन हो सकते हैं। आज इन तीनों का शिक्षा के क्षेत्र के लिये समुचित उपयोग नहीं हो रहा है। दो बातों की आवश्यकता है। इनके द्वारा जो कुछ हम जनता को देते हैं वह दूषक न हो, काम वासनाओं को जागृत करने वाला न हो। दूसरा, इसके प्रीतिकूल वह ऊँचे आदर्शों को लोगों के सामने ग्राह्य और व्यवहारिक रूप में रक्खे। आज रेडियो, सिनेमा तथा प्रेस तीनों ही विद्यार्थी जगत् में महान अनिष्ट का कारण हो रहे हैं। सिनेमा के बारे में प्रतिबन्ध[2] तो अत्यावश्यक प्रतीत होता है। विद्यार्थियों के लिये अलग तस्वीरें होनी चाहिए और जब तक हम सामान्य जनता के मापदण्ड[3] को बदल नहीं पाते, सामान्य तस्वीरों को देखने पर

---

१ अपनाने के योग्य न हो, अनुचित। २ रोक। ३ पैमाना Standard।

विद्यार्थियों के लिये प्रतिबन्ध रहने चाहिए। यदि समाज के हित में सिपाहियों पर इस प्रकार के प्रतिबन्ध हो सकते हैं, तो विद्यार्थियों पर ऐसे प्रतिबन्ध क्यों नहीं लगाये जा सकते ?

रेडियों तथा प्रेस का इस दृष्टि से शोधन तो और भी असान है। रेडियो गवर्नमेंट के अपने हाथ में है। प्रेस पर नियन्त्रण भी लगाने कठिन नहीं हैं। इस प्रकार से ऊँचे पैमाने पर काम करने से दस वर्षों में भारत का वातावरण बदल सकता है।

इस प्रकार की कामवासनाओं का समाज में प्रकोप कितनी बड़ी राष्ट्रीय हानि है, स्थूल दृष्टि से भी, इसका अनुमान कम व्यक्ति लगा पायेंगे। काम सम्बन्धी जुर्मों के कारण गवर्नमेण्ट का खर्चा कम हो जायेगा, गुह्य रोगों की संख्या कम हो जायेगी। लोगों के मन तथा तन अधिक स्वस्थ होंगे तो लोग और अच्छा काम करने लगेंगे, जिससे उत्पादन की मात्रा और कार्य्य का पैमाना ऊँचा हो जायेगा। राष्ट्र एक नूतन जीवन से युक्त हो सकता है। सम्भव है यदि ठीक ढंग से कार्य किया जाय तो एक दिन वेश्या प्रथा जो जातीय अभिशाप[1] है, उससे देश मुक्त हो सकता है। राष्ट्र नूतन-जीवन से जग उठेगा। परिवारिक जीवन भी अधिक सौम्य हो जायेगा। इतनी गहरे तथा महत्व शील कार्य की उपेक्षा कोई भी महत्वाकाक्षी राष्ट्र नहीं कर सकता। इस क्षेत्र में रूस देश में किये गये प्रयोग बहुत मात्रा में सराहनीय हैं। आज व्यभिचार की संख्या रूस में नगण्य

[1] कठिन शाप ; भीषण रोग।

है। विद्यार्थियों को सफलता पूर्वक सिगरेट-तम्बाकू आदि से दूर रक्खा जाता है।

यह कार्य महान है और शक्ति की मांग करता है। भावी भारत के सूत्र-धारों के हाथ में बहुत कुछ है।

तीसरी, आवश्यकता है काम सम्बन्धी विषय का समुचित शिक्षण। लज्जा के परदे ने गन्दगी को दूर नहीं किया, उस गन्दगी को छिपा कर और भी सड़ाँध-पूर्ण कर दिया है जिस प्रकार से अन्य प्राकृतिक क्रियाओं का वर्णन किया जाता है, प्रकृति के नियम बताये जाते हैं, ऐसे ही जीवन रहस्य के बारे में भी शिक्षा देनी आवश्यक है। यदि हम स्वयं अपने बच्चों को उत्पादिनी शक्ति के बारे में न बतायेंगे तो वह गली कूचे में ऐसे लोगों से सीखेगा जो उसके जीवन को बरबाद कर सकते हैं। कई गलत धारणाओं को भी ग्रहण कर लेगा। अवस्था अवस्था के मुताबिक थोड़ा-थोड़ा करके उसे इस विषय का समुचित ज्ञान प्रदान करना चाहिए। यह काम लड़कियों के लिए मातायें कर सकती हैं और लड़कों के लिये पिता। उनके अयोग्य होने पर चरित्र वान और योग्य अध्यापक अथवा अध्यापिकाओं को ही यह काम करना चाहिए। इसके लिये अपने को शिक्षित करना होगा और पवित्र करना होगा। इस विषय में किसी प्रकार की लज्जा अथवा संकोच अहितकर ही अहितकर है। अंग्रेजी में इसविषय पर काफ़ी साहित्य हैं। हिन्दी में भी थोड़ा बहुत है, परन्तु अभी और अधिक हिन्दी साहित्य की आवश्यकता है। कुछ उपयोगी पुस्तकों के नाम इस अध्याय के अंत में दिये हैं।

सम्मिलित शिक्षण (को-एजुकेशन) के गुणदोष अभी विवादास्पद[१] विषय है। हम प्रयोग की अवस्था में से गुजर रहे हैं। कालिज में सम्मिलित शिक्षण तो सुविधा के ख्याल से चला है। लड़कियों की संख्या कम होने के कारण उनके लिये अलग कालिजों का खड़ा करना सम्भव न था, अतः लड़कों के कालिजों में ही उनको भी भरती करना पड़ा। वर्तमान परिस्थित में इसका प्रभाव कदापि श्रेयष्कर[२] नहीं हुआ है, ऐसा मुझे समझ में आता है। हमारे शिक्षास्थलों का वातावरण पहिले से बहुत अधिक काम-वासनाओं से पूर्ण हो गया है। हमारे युवकों में चर्चा का विषय और उनकी चेष्टा का लक्ष्य उनकी सहपाठनी लड़कियाँ रहती हैं। कारण सुस्पष्ट है। एक दम का सम्पर्क, और यौवन की अवस्था में। इसके अतिरिक्त कालिज के पहले साल एक प्रतिक्रिया को काल होते हैं। स्कूल के बन्धन से मुक्ति का पूरा आस्वादन[३] विद्यार्थी को कहाँ कहाँ ले जाता है*। तीनों बातें वातावरण को दूषित कर देती हैं।

स्कूल तथा कालिजों के वातावरण हानिकारक हैं। स्कूलों तथा कालिजों में विद्यार्थियों को अपनी जिम्मेदारी अनुभव करने के लिये प्रेरित करना नियन्त्रण से कहीं लाभ प्रद होगा।

---

१ बहस का; अनिश्चित। २ लाभदायक, हितकर। ३ चाट।

* स्कूल तथा कालिजों के वातावरण में इतना अन्तर हानिकारक है। स्कूलों तथा कलिजों में विद्यार्थियों को अपनी ज़िम्मेदारी अनुभव करने के लिये प्रेरित करना नियंत्रण से कहीं अधिक लाभ प्रद होगा।

रजोवीर्य दर्शन की अवस्था से पूर्व तक एक बालक बालिकाओं का साथ साथ खेलना तथा पढ़ना हानिकारक नहीं होता। यदि यहीं बालक समुचित शिक्षा के प्राप्त करें और ठीक वातावरण में रक्खे जाय तो उनके मनों के दूषित होने और तनों के कलंकित होने का भय नहीं है जितना इस प्रकार अक्समात युवक तथा युवतियों को न तैय्यार किये वातावरण में बिना समुचित शिक्षा के इकट्ठा कर देना।

यदि यही आवश्यक है कि ऊँची शिक्षा के स्थलों में युवक और युवतियां इकट्ठे पढ़ें तो हमें बहुत बातों को बदलने की चेष्टा करनी होगी। शिक्षालयों के वातावरण को पवित्र बनाये रखने के लिये, परस्पर युवकों तथा युवतियों में पवित्र भ्रातृ भावना स्थापित करने के लिये प्रयास करना होगा और उन दोनों की शक्ति के लिये ऊपर कहे अनुसार अनेकों क्षेत्रों को खोलना होगा। अन्यथा भयंकर परिणाम देखने को मिलेंगे।

१०

पूर्व तथा पश्चिम ।

जितना अन्तर काम सम्बन्धी आचार विचार व्यवहार के क्षेत्र में पूर्वीय (विशेष कर भारत) तथा पाश्चात्य देशों में दिखाई पडता है उतना और किसी क्षेत्र में शायद ही होगा। मुझे तो यह पूर्वीय तथा पाश्चात्य संस्कृति को ठीक ठीक समझने की कुंजी ही प्रतति होती है। भारत का इतिहास ब्रह्मचर्य के गुण-गान से भरा है। क्या वेद क्या उपनिषद्, क्या स्मृति और क्या इतिहास पुराण-सभी ब्रह्मचर्य को महान समझते हैं। ब्रह्मचर्याश्रम सबसे पहला आश्रम है। वेद में ब्रह्मचारी की स्तुति में एक पूरा सूक्त ही है। ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये इन्द्र भी वर्षों तक व्रत का पालन करता है। गृहस्थी भी ब्रह्मचारी ही है यदि वह ऋतु गामी है। 'भोग के लिये भोग' इसके लिये कोई शास्त्र अनुमति नहीं देता। कामोपभोग का लक्ष्य सन्तानोत्पत्ति है और वह एक महान यज्ञ है, एक धर्म कृत्य है। गर्भाधान भी संस्कारों में ही स्थान रखता है। विवाह भी आवश्यक है प्रत्येक व्यक्ति के लिये पितृऋण से मुक्त होने के हेतु। अवैवाहिकता प्रतिवाद है। उसके लिये किसी प्रधान हेतु की आवश्यकता है।

इस प्रकार की आदर्शवादी विचारधारा के फल स्वरूप हम पाते भी हैं कि भारत में उस संस्कृति के अनुययियों में काम सम्बन्धी आचार का पैमाना बहुत ऊंचा रहा है। पाश्चात्य देशों में तो आज भी बहुत ऊंचा है, इससे इन्कार नहीं किया

जा सकता। हमें तो यहाँ वर्तमान अवस्था की अभी चर्चा नहीं करनी, आदर्श का विचार करना है।

इस भारतीय आदर्श के ठीक प्रतिकूल बात हमें पश्चिम में अमेरिका, योरूप, इङ्गलैंड आदि में दिखाई पड़ती है। विवाह से पूर्व ही कामसम्भोग हो, और किसी प्रकार से उस सम्भोग के 'फल' से छुट्टी पानी, वहाँ के लिये सामान्य बात समझी जाती है। अविवाहिता युवतियों में कोई विरली ही वास्तव में कुमारी रह पाती होंगी। आज के कुछ लेखक तो विवाह से पूर्व काम सम्भोग को देखने तक को बुरी नज़र से नहीं देखते। क्योंकि वहाँ के कई विवाहोच्छेदों में एक बड़ा कारण काम की अतृप्ती भी रहता है गर्भिनी होने पर विवाह और उसके थोड़े समय बाद सन्तानोत्पत्ति तो बिल्कुल अस्वाभाविक समझो नहीं जाती।

विवाहिता अथवा अविवाहितों में विवाह के अतिरिक्त सम्बन्धों की भी भरमार रहती हैं। विवाहोच्छेदों की संख्या भयावह है। परिवार छिन्न भिन्न हो जाते हैं। माता पिता अपने सुख पर अपनी सन्तान की बलि देते हैं। "ब्रह्मचर्य" की कल्पना उन अर्थों में जो भारत में मिलती हैं वहां पर नहीं है।

इस स्थिति का कारण? पाश्चात्य देश इसाई धर्मावलम्बी देश हैं। महात्मा ईसा स्वयं अविवहित रहे, ब्रह्मचारी ही रहे। उनका कथन था। 'If you cannot contoin marry.' उनकी माता मेरी को भी ब्रह्मचारिणी कहा जाता है। महात्मा ईसा ने पुराने यहूदी धर्म में एक नवीन धारा प्रवाहित की थी। जहाँ तक आचारों का सामाजिक आदर्शों का प्रश्न था, उसमें उन्होंने अपने Sermon on the Mount (पहाड़ी पर उपदेशों) में

प्रकट विचारों के द्वारा एक नया आधार प्रदान किया था। परन्तु सामान्य जीवन तो उस पुराने टेस्टेमेन्ट के आधार पर चल रहा था और चलता रहा। पुराना आदर्श नकारात्मक था। thou Shall not commit adultry 'तुम व्यभिचार नहीं करोगे (किसी प्रकार का धनात्मक आदर्श इसमें से यदि हाथ लगता है तो वह यह है कि अपनी विवाहित स्त्री से तुम जो मर्जी आये करो। वास्तव में महात्मा ईसा के कथन के अनुसार भी वैवाहिक जीवन निकृष्ट जीवन है। अविवाहित जीवन ही आदर्श है। इस निकृष्ट जीवन में नियम का क्या प्रश्न ?

इसके फल स्वरूप हम यही विचार धारा इसाई धर्म के प्रचारकों में भी पाते हैं। काम सम्भोग जायज सुख है यदि व्यक्ति अपने को अपनी स्त्री तक सीमित रखता है तो। इसमें किसी प्रकार के दोष की सम्भावना नहीं। इस प्रकार का बौद्धिक सहारा मनुष्य के लिये तो पर्याप्त है। वह किसी प्रकार की बाढ़ें, इस सुखभोग के रास्ते में क्यों लगावें ? यदि वह खाना खाने में नहीं लगाता, रहन-सहन में नहीं लगाता तो काम-सुख के बारे में क्यों लगाये ?

महात्मा ईसा के व्यक्तिगत आदश को लेकर ब्रह्मचारी (monks) साधुओं और ब्रह्मचारणियों साध्वियों (nuns) का क्रम चला प्रतीत होता है। बौद्ध भिक्षुणी संघ की तरह उसका पवित्र रहना भी कठिन हुआ। उसमें दोष आये। आज तक वह प्रथा थोड़ी बहुत प्रचलित ही है।

आज व्यभिचार पर्दा डालने में मेडिकल साइंस (चिकित्सा शास्त्र) कई प्रकार से सहायक होती है। काम-सम्भोग के साथ

लगी हुई कीमत गर्भ स्थिति का इलाज संततिनिग्रह के तरीकों द्वारा किया जाता है। औपरेशन के द्वारा भी गर्भस्थिति की सम्भावना को दूर कर दिया जा सकता है। तिस सब पर आज के युग के महान् वैज्ञानिकों का कथन कि काम सम्भोग भी एक भूख है, इसकी तृप्ति भी उतनी ही आवश्यक है जितनी दूसरी भूखों की। पाश्चात्य सभ्य अपने भीतर पूर्ण सन्तोष पाता है। उसकी आँखों में ब्रह्मचर्य अस्वाभाविक तपन है, मूर्खता है और रोग का मूल है।

आज भारत का युवक पश्चिम की स्थिति पर दृष्टि पात करता है और भारतीय आदर्श पर। यौवन में कुछ समय के लिये वह जाता हैं। प्रौढ़ावस्था में प्रायः फिर जगता है। अपने अनुभव के आधार पर परिपक्व बुद्धि के आधार पर और अवस्था की मांग के कारण, वह आदर्श कुछ समझ में आने लगता है। अध्यात्म विकास के साथ कुछ सम्बन्ध दिखाई पड़ता है और वह उसे अपनाने का इच्छुक हो जाता है। फिर मन में तपन भी होती है। "हाय ! यदि आज से २० बरस पूर्व समझा होता तो आज मैं कुछ और ही होता !"

हमने दोनों आदर्शों को समझा। पाश्चात्य स्थिति की पृष्ठ भूमिका का भी अध्ययन किया। अब हमें मौलिक आधार को समझ कर निर्णय करना होगा कि हमारे लिये कौन सा पथ श्रेयस्कर है, मानव समाज के लिये कौन सा पथ श्रेयस्कर है। हम भविष्य के दृष्टि कोण से देखेंगे और वर्तमान के दृष्टि कोण से भी।

मानव जीवन किस लिये है? इसका सबसे ऊँचा, सबसे अच्छा उपयोग क्या हो सकता है? हमारे पास शक्ति है, समय है; हम क्या अच्छी से अच्छी वस्तु इसके द्वारा पा सकते हैं! यह मौलिक प्रश्न है। 'सुख' आप कहेंगे। परन्तु सुख तो कई प्रकार का है। कौन सा सुख? भोजन के रसन में सुख है? माया की ऐश में एक सुख है। काम के सम्भोग में एक सुख है। प्रेम में भी एक विचित्र आनन्द है—प्रेम करने में और प्रेम पात्र बनने में भी ललित कलाओं के आस्वादन में एक सुख है और रचना में भी। दर्शन के मनन में, गणित के अभ्यास में, कविता तथा साहित्य की उड़ान में भी सुख ही अनुभव होता है। दूसरों को दुःख देने में एक प्रकार का सुख होता है किन्हीं के लिये। और किन्हो के लिये दूसरों के लिये जान देने में। सुख तो एक तृप्ति है परन्तु यह तो कई प्रकार की हो सकती है। आप किस जीवन को सुख का ध्येय समझते हैं?

'जितनी तरह का मिले और जितना अधिक मिले', शायद कइयों का उत्तर होगा। परन्तु इस उत्तर में विचार शीलता नहीं प्रतीत होती। एक प्रकार का सुख दूसरे प्रकार के सुखों का विरोधी भी होता है। एक सुख को पाने के लिये किसी दूसरे सुख को छोड़ना भी पड़ता है। यदि चुनाव ही करना होगा तो हमें कौन सुख चुनना है?

शरीर का सुख, मन का, बुद्धि का और आत्मा का—ऐसा क्रम निर्धारित करते हैं समझदार लोग सुख की श्रेष्टता के बारे में। और इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो अनुभूति ही है। वैसे तो विकास का क्रम भी इसी ओर इशारा करता है। उत्तरोत्तर

आगे बढ़ने पर ही वाद वाले सुख क्रमशः अनुभव के क्षेत्र में हैं। मनुष्य धीरे धीरे आत्मा के सुख की ओर बढ़ रहा है। वह नीची कोटि के सुखों को लांघता चला आता है। उनका आकर्षण कम होता चला जाता है। उनका सुखपन विकसित होते हुये व्यक्ति के लिये लुप्त होता चला जाता है। यही भगवान् का निर्दिष्ट पथ भी है, इसी लिये ही। यही अनुभव भी है बताता साधकों का। आगे बढ़ने पर यह होता है कि नीची कोटि के सुख की इच्छा जगती है और व्यक्ति उसको दबा देता है। अपितु उस नीची कोटि के सुख के लिये इच्छा जगती ही नहीं। दबाने की आवश्यकता ही नहीं होती।*

ज्ञान तथा शक्ति का अतिशय भी सुख का, तृप्ति का कारण होता है। व्यक्ति का विकास इन दोनों को बढ़ा देता है। वह उस आनन्द को लाभ करता है जिसे प्राप्त कर और किसी प्रकार की इच्छा नहीं रहती—

*यंलब्धवां ना परं लाभं मन्यते नाधंक ततः

जिसे पाकर उससे बड़ा लाभ व्यक्ति कुछ नहीं मानता।

आज का मनोविज्ञान सामान्य मनुष्य के अध्ययन पर आश्रित है और मनो-रोगियों की अवस्था के अध्ययन पर। वर्तमान से आगे की विकास की अवस्थाओं के अध्ययन का अवसर अभी

---

*शायद कोई यह समझे कि कामवासना के दमन की यह परा काष्ठा है, परन्तु ऐसे व्यक्ति की सौम्यता तथा आन्तरिक स्वस्थता उसमें दमन के नितान्त अभाव को बताते हैं।

*श्री मद्भगवगीता

तक उन लोगों को मिला ही नहीं। अतः इस प्रकार के आनन्द की कल्पना उनको असम्भव दिखाई पड़ती है। इसकी चर्चा ही वहाँ नहीं है। यह विस्मय जनक बात नहीं! अस्तु।

यदि मानव विकास सचमुच वास्तविकता है तो हमारे जीवन का सर्वोच्चोपयोग तो उस विकास को तीव्र करना आगे ले जाना ही होगा—अपना विकास और दूसरों का। यदि परमानन्द ही हमारा प्राप्तव्य है तो हमें उस आनन्द के रास्ते में खड़े होने वाले सभी सुखों का परित्याग ही करना होगा। यदि ज्ञान तथा शक्ति की पराकष्ठा ही प्राप्तव्य है तो उस के लिये ही पुरूषार्थ शील होना होगा।

यदि (इसके प्रतिकूल) भौतिक सुख को आदर्श मानकर व्यक्ति तथा समाज का निर्माण करते हैं तो हमें पग पग पर संघर्ष ही संघर्ष दिखाई पड़ता है। संसार की वस्तुएं सीमित मात्रा में ही हैं और सीमाओं में ही रहेंगी, परन्तु उसके लिये लालसा तो नि:सीम है। फलस्वरूप व्यक्ति व्यक्ति से भिड़ेगा उनको पाने के लिये, और समाज समाज से राष्ट्र राष्ट से। और वह सुख प्राप्त होते होते ही अपने सुखपन को खो देते हैं। हमें सुख पाने के लिये और चलना होगा।

भौतिक सुख का उपयोग इन्द्रियों पर निर्भर करता है। इन्द्रियों की भी शक्ति की सीमायें हैं। वह सुखोपयोग इन्द्रियों का हनन करता है। इन्द्रियाँ शिथिल होती हैं। सुख भोग की सीमा अपने आप वन जाती है।

जिस व्यक्ति का आदर्श सुख पाना है उसके लिये सामाजिक नियम उतनी ही मात्रा में अर्थ रखते हैं जितनी मात्रा में वह

उसके सुखों के सहायक हैं। वह किसी नियम का अवलंघन इसलिये नहीं करता कि दण्ड मिलेगा, अथवा उससे सुख छीन लिया जायेगा। ऐसे व्यक्ति की नैतिकता पोलीस वाली नैतिकता हो सकती है। चोरी करना बुरा नहीं, चोरी करके पकड़ा जाना बुरा है। किसी को दुःखी करना बुरा नही उसके बदले में दुःखी किया जाना बुरा है।

यह विचारधारा कर्तव्य के लिये वास्तव में कोई स्थान नहीं रहने देती। प्रेम तथा सेवा का आदर्श यहां असम्भव है। विशुद्ध आत्म त्याग की यहाँ गुंजाइश नहीं। आज की उत्तप्त दुनियाँ का, राष्ट्रों और समाज का, संघर्ष ग्राहग्रस्त$ मानवता का, यही दृष्टि ही अभिशाप है। यही व्यक्ति को विनाशोन्मुख* किये है।

यदि हमारा जीना है विकास के लिये, अपने और दूसरों के मानवता के विकास के लिये, तो ब्रह्मचर्य का आदर्श ठीक आदर्श है। विकास के लिये यह नितान्त आवश्यक है।

किस प्रकार से जीवनी शक्ति को ऊँचे क्षेत्र में प्रवृत्त¶ करके उसके द्वारा शोधन तथा नवनिर्माण का कार्य हो सकता है। इस बात का विचार तो पहले हमने भी किया है। * इसी बात को हमें बहुत खोलकर सोचना होगा।

जीवनी शक्ति का उपयोग जो स्त्री पुरुष के परस्पर संयोग के द्वारा होता है वह मनुष्य के जीवन में एक प्रभावशाली घटना

$ लडाई रूपी घडियाल से पकड़ा हुआ। * नाशकी ओर जाने वाला। ¶ लगा हुआ।

* देखिए पृष्ट ६२

होती है। पशु जीवन में तो केवल मात्र प्राकृतिक औचित्य ही एक गणनीय† बात है। व्यक्तित्व का विकास अभी तक नगण्य होता है, इसीलिये किससे कौन सम्भोग करता है यह कोई महत्व नहीं रखता। पशुस्तर* पर यह केवल मात्र इन्द्रियों की क्रिया है। उसका मन पर बुद्धि पर और अन्तारांत्मा पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि अभी पशु जीवन में उनका विकास ही नहीं हुआ होता। माता-पिता का बच्चों के साथ लगावट भी तभी तक अर्थ वाली है जब तक उनकी सहायता बच्चों को चाहिए। उसके उपरान्त सभी दृष्टियों से बच्चे और माता पिता एक ही सामान्य कोटि में आ जाते हैं।

मनुष्य में काम की प्रवृत्ति मन के साथ बहुत घना सम्बन्ध रखती है। भावनाओं का निर्माण इस इन्द्रिय के उपयोग के साथ जुड़ जाता है। पति-पत्नि की भावना, पुत्र-पुत्री की भावना, और परिवार के साथ सम्बन्ध रखने वाले भाव तथा आदर्श उसी में केन्द्रित१ हैं। इन भावों का सुसंस्कार२ ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है। वह पाशविक स्तर से बहुत ऊँचे के सत्य हैं। परस्पर प्रीति सेवा, त्याग सब इसी प्रकार के भावों पर आश्रित हैं। यदि हम इस प्रकार के भावों को पुष्ट करते हैं अपनी क्रियाओं के द्वारा, तो हम मनुष्य को विकास पंथ पर आगे ले जाते हैं। जो क्रियायें जो व्यवहार मनुष्य के मन में विकास का कारण है वह ग्राह्य है और जो उसके विकास का बाधक है वह त्याज्य३ है।

---

† गिनने योग्य, ज़रूरी। * जानवरों के सम्बन्ध में।

१ सहारे से। २ शोध। ३ छोड़ने योग्य।

मनुष्य समाज में सतीत्व का आदर्श पत्निवृत्य का आदर्श और पतिवृत्य का आदर्श-मनुष्य को त्याग, सेवा तथा प्रीति का पाठ पढ़ाते हैं। यदि इस विषय में सभी मर्यादाओं को छोड़ दिया जाये तो उसका परिणाम यह होगा कि मनुष्य में इन भावों के पनपने का अब अवसर ही न रहेगा। वह जीवन पशुत्व से ऊँचा न होगा।

पति-पत्नि का नाता केवल मात्र रजो-वीर्य के संयोग का नहीं होता। जो केवल मात्र पाशविक नाते से ही काम सम्बन्ध होता है उसकी सन्तान ऊँचे मानवीय भावों से रहित होनी स्वाभाविक प्रतीति होती है। आज टेस्ट ट्यूब बेबीज† की चर्चा हो रही है। पाशविक जगत् में वह सभी ठीक है, परन्तु मनुष्य की की उत्पति को इस प्रकार से ऊँची भावनाओं से शून्य कर देना तो पाशविकता की ओर कदम बढ़ाना होगा। होगा। रूस में प्रयोग किया गया था नवजात[१] शिशुओं को माता-पिता से अलग करके शिशु गृहों में पालन करने का। परन्तु उसके परिणाम ने केवल यही सिद्ध किया है कि पिता का सामीप्य[२] और परिवार का वातावरण मनुष्य को मनुष्य बनाने में परमावश्यक है।† मातृ भावना और पितृ भावना[३] से रहित मनुष्य, देश तथा जाति के लिये भी प्रीति तथा त्याग से रहित होगा; वह मातृ भावना से भी रहित होगा। उससे सहानुभूति तथा सेवा की आत्म दुराशा मात्र होगी। आवश्यकता है गृहस्थ में पैदा

---

१ नया पैदा हुआ। २ समीपता।

† Phychology of Childhood to Maturity

होने वाली भावनाओं को व्यापी बनाने की जिससे वह पारस्परिक संघर्ष का कारण न होकर सहयोग तथा परस्पर सहायता की प्रेरक बनें। उनका उच्छेद तो पाशविकता को ही स्थान दे सकता है। देवत्व नहीं प्रगट कर सकता।

पति-पत्नि के नाते की पवित्रता रह सकती है, सतीत्व के और पत्निव्रत्य के आधार पर, सच्चाई और अनन्यता के आधार पर ही। यदि पति अपनी सुखेच्छा की तृप्ति के लिये मर्यादा का अवलंघन कर किसी अन्य स्त्री से संम्भोग करता है तो वह व्यभिचार है। वह व्यभिचार है इसलिये भी कि वह काम संभोग सुख मात्र के लिये है, और यह व्यभिचार इसलिये भी है कि उसमें अपनी सह धर्मिणी का अवलंघन है, तिरस्कार है।

सभ्य समाज इस काम की आज्ञा नहीं देता क्योंकि इससे व्यक्ति में ऊँचे भाव, त्याग तथा अनन्यता नहीं पनप पाते हैं और वह परिवार का पवित्र वातावरण जिसमें समाज के आने वाले सदस्यों का निर्माण होता है वह भ्रष्ट हो जाता है, रह नहीं पाता है। काम संभोग के लिये मर्यादा का परित्याग समाज के लियें संहार कारक ही सिद्ध हो सकता है और सभ्यता के लिये अन्तकारक। यही कारण है इस विषय में इतनी कड़ाई का। इस मर्यादा के बारे में पश्चिम भी कानून बनाये हुये है। व्यभिचार पाप है।†

यह तो रही वैवाहिक नाते की बात इससे पूर्व संयम की

† यद्यपि वेश्या वृत्ति को शासन प्रबन्ध स्वीकार करते हैं और उस वृत्ति के लिये टैक्स भी लेते हैं।

आवश्यकता ? ब्रह्मचर्य-आश्रम की अर्थवत्ता[१] क्या है ? यदि हम विवाहितों से संयम की माग करते हैं तो इस संयम के बीज तो हमें इससे पूर्व की अवस्था मे ही बोने होंगे। एक दम से व्यक्ति के जीवन मे परिवर्तन असम्भव होता है। इसके अतिरिक्त यदि वीर्य की रक्षा, तथा मन की रक्षा कुसंस्कारों से, जीवन के प्रारम्भिक भाग में न की जाय तो शरीर दुर्बल तथा मन रोगी हो जाता है। ऐसा मन आदर्शों को ग्रहण ही नहीं कर पाता है। कामुकता उसमें निवास करने लगती है। सुखच्छा ही उसके कार्य्य की निर्देशक वनती है। दुनिया के कोई बड़े काम, लय तथा त्याग के बिना नहीं हुये और वह ऐसे मनुष्य में रह ही कैसे सकते हैं ?

यौवन तक की अवस्था में किया हुआ संयम ही समान्यता व्यक्ति को ग्रहस्थ काल में भी संयमी बना सकता है। वही व्यक्ति ग्रहस्थ में भी ब्रह्मचर्य का पालन कर पायेगा जो ब्रह्मचर्य काल में संयमी रहा है।

पाश्चात्य देशों के युवक तथा युवतियाँ जो विवाह से पूर्व ही काम कला में दक्ष हो जाते हैं वह जीवन में सुखेच्छा से किसी ऊँचे आदर्श को ला पायेंगे, असम्भव दीखता है। वह काम शमन[२] के लिये अपनी पारिवारिक पवित्रता की मर्यादा में रह पायेंगे यह कैसे सम्भव है ? उसका परिणाम प्रत्यक्ष ही है। विवाहों का उच्छेद होता है। आज एक पर अपना जी-जीवन देने

---

१ उद्देश्य, आवश्यकता।

२ तृप्ति, शान्ति।

वाला किसी दूसरी युवती पर अपना आपा वारने१ को तैयार हो जाता है, और आज एक पुरुष को अपना सर्वस्व कहने वाली युवती किसी पर पुरुष के भुजापाश२ में शान्ति पाना चाहती है। अनन्यता नहीं और उसके बिना जीवन में स्थिरता नहीं, मन में शान्ति नहीं! रूप-सौन्दर्य और मनसंतोष३ के पीछे तितलियों की तरह व्यक्ति अपनी आयु को खोते फिरते हैं। इसका परिणाम जो है सो है ही; समाज में कितना दुःख और बच्चों पर क्या प्रभाव पड़ता है? मातृ भावना और पितृ भावना की पवित्रता पर तो कुठाराघात ही होता है।

जीवन के ऊँचे आदर्श से व्यक्ति तथा समाज दोनों ही पतित होते हैं। इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है?

पश्चिम के आदर्शों पर विचार करते समय यदि हम गहराई तक जायें तो हमें उनमें पतन ही पतन दिखाई पड़ता है। भौतिक सुख के लिए अन्धी लालसा है और उसके कारण संघर्ष विभिन्न क्षेत्रों में, और व्याकुलता। भारत का आदर्श आदर्श कहलाने के योग्य है। इससे व्यक्ति का कल्याण और समाज का हित होता है। सभी ऊँची चीजें कीमत से मिलती हैं। यह आदर्श भी कीमत देकर पाया जा सकता है यह कदापि न भूलना होगा।

एक ही बात मुझे इस विषय में और कहनी बाकी है। "आदर्श, आदर्श का राग कोरा प्रलाप४ है, यह न कभी जीवन में घटित हुआ है न हो सकता है"। ऐसा आज कुछ लोग सोचने लगे हैं।

---

१ न्योछावर करने। २ आलिंगन। ३ मन का संतोष। ४ बकवास।

आज जितना कोई राष्ट्र अपने घटकों[१] को प्रभावित कर सकता है शिक्षा के द्वारा, इसका प्रमाण हमें और देशों में तो मिलता ही है, परन्तु युद्ध से पूर्व जर्मनी ने दिखा दिया और रूस आज भी दिखा रहा है। जर्मनी ने अधिकांश जर्मनों के मन बदल डाले, उनकी विचार धारा को बदल डाला और उसके परिणाम रूप संसार में क्या नहीं कर दिया ? रूस आज भी इसी प्रभाव के जीती जागती मिसाल मौजूद हैं। यद्यपि यह कहना न होगा कि वह उपाय जो जनशिक्षण के लिये इन लोगों ने वर्तें वह सर्वथाग्राह्य[२] हैं। परन्तु आज तो लोगों की मनोवृत्तियों को बदलने के अनेक साधन मौजूद हैं। यदि कोई सत्ता चाहे तो वह दस पन्द्रह साल में लोगों के मनों में, विचार धाराओं में और भावों में महान परिवर्तन पैदा कर सकती है।

परिवर्तन का तरीका दण्ड नहीं होता। दण्ड तो प्रायः क्षोभ का ही कारण होता है। समुचित शिक्षण के लिये परिस्थिति का परिवर्तन तथा नव शिक्षण के लिये जगा कर मन को, बुद्धि को तथा सुप्त चेतना को ऐसे प्रभावित करने की चेष्टा करनी चाहिए कि प्रतिक्रिया[३] न हो अपितु ग्रहण शीलता अधिकाधिक बढ़ जाय। मनोवैज्ञानिक लोग ऐसे तरीकों को भली भाँति जानते हैं।

यह संयम सम्बन्धी आदर्श समाज में प्रचलित रहे हों अथवा न रहे हों, परन्तु इतना निश्चित है कि यदि सत्ता वाले

---

१ विद्यार्थी। २ हर दशा में मानने योग्य।
३ विरोध, उलटाफल।

चाहें तो इन अदर्शों को फिर से सजीव कर सकते हैं और यह फिर से व्यक्तियों के जीवन को ढालने में बहुत प्रभावशाली हो सकते हैं। नव भारत के निर्माताओं को इस ओर भी ध्यान देना चाहिए।

यह आदर्श केवल मात्र भारत के लिये ही नहीं है। आगे बढ़ते हुये मानव समाज को इन्हें ग्रहण करना होगा। पाश्चात्य की काम-सम्बन्धी समस्याओं का अन्तिम हल इन्हीं आदर्शों में दिखाई पड़ता है।

———

(१२)

गार्हस्थ में आदर्श

आज का भारतीय समाज स्मृतियों के आदर्श से बहुत दूर है। राजनीति के परिवर्तनों ने, काल की समविषम१ गतियों ने, आज हमें उन ऊँचे आश्रम-संबंधी आदर्शों से व्यवहार में ही नहीं, विचार में बहुत दूर कर दिया है। पुरातन आर्य-संस्कृति जिसका दर्शन हमें उपनिषद ग्रंथों तथा पुरानी स्मृतियों में मिलता है उसमें कर्म की प्रधानता मिलती है, वाह्य त्याग की प्रधानता नहीं। ग्रहस्थाश्रम बहुत ऊँची दृष्टि से देखा जाता है†। हमें कहीं ग्रहस्थ की निन्दा नहीं मिलती। गेरुआ वेशधारी साधुओं की, ग्रहस्थ से भाग खड़े होने वाले व्यक्तियों का कहीं पता नहीं चलता। उनकी संख्या नगण्य सी थी, यदि थी भी। महात्मा बुद्ध के प्रचार ने उस लुप्त होते हुये गलत समझे जाते हुये पुरातन कर्म के आदर्श पर चोट की। उनके प्रचार के फलस्वरूप भिक्षु संघ का उदय हुआ उनके विचार प्रचार के फलस्वरूप ग्रहस्थाश्रम का तिरस्कार। जैन मतावलम्बियों में भी यही बात थी। बौद्ध धर्म तो चला गया, परन्तु यह विचार धारा हम में छोड़ गया। श्री शंकराचार्य तथा दूसरे मध्ययुगीनार आचार्यों ने भी उसी से प्रभावित हो सन्यासी आदि संघों की

---

१ शान्त और अशान्त, अनुकूल और विरोधी।

† मनु। २ युग वाले।

स्थापना की। "ग्रहस्थ तो कीच है, दलदल है, यहाँ धर्म कर्म असम्भव है।" यह ध्वनि समाज में सभी ओर गूँजती दीखती है। जो सामर्थ्य रखते हैं वह ग्रहस्थ का परित्याग कर सन्यासी बन जाते हैं। इसके फलस्वरूप समाज में से अच्छे अच्छे। योग्य व्यक्ति समाज को छोड़ कर अलग हो जाते हैं। "वह दलदल से निकल गये, धन्य हैं; हम ही अभागे अभी फंसे हैं" ऐसी आहें भरते हैं, ग्रहस्थी सन्यासियों को देख-देख कर।

यह प्रमाण भी है और परिणाम भी उस ऊँचे आदर्श से च्युति[१] का। ग्रहस्थाश्रम साधन का आवश्यक काल है। यह एक यज्ञकाल है जिसमें सन्तान याग होता है और प्रभु के रचनाकार्य में व्यक्ति योग देने का अवसर पाता है। इसी स्थिति में व्यक्ति प्रेम तथा त्याग के पाठों को व्यवहारिक रूप से पढ़ सकता है; और यही काल है जिसमें व्यक्ति काम शोधन की महान् क्रिया को सुगमता पूर्वक प्रेरित कर सकता है। गृहस्थी का ब्रह्मचय सहज व्रत है। संतति तथा ऋतुओं के नियमों का पालन करता हुआ गृहस्थी भी पूरा ब्रह्मचारी ही है, स्मृतिकार[२] ऐसा कहते हैं। यह बात समझनी भी तो कठिन नहीं।

गृहस्थ की अवहेलना[३] करनी वास्तव में अपनी अवहेलना करनी है। अपनी कामुकता को घोषित करना है। यह हमारे लिये कीचड़ है क्योंकि हम उसको कीचड़ बनाते हैं। यदि हम इसको अपने लिये शिक्षा स्थल अथवा साधन स्थल बनायेंगे तो

---

१ अलग होने का, गिरने का।

२ स्मृति बनाने वाले। ३ तिरस्कार, अनादर।

यह वैसा ही हो जायगा। पति होना किसी को काम लोलुपता नहीं सिखाता है। हमारी ही काम लोलुपता प्रकट हो जाती है अवसर पाकर।

साधन की दृष्टि से समुचित रूप से निभाया हुआ गृहस्थाश्रम अवैवाहिक जीवन से कहीं अधिक अच्छा रहता है। प्रतिवाद[१] हर जगह हो सकते हैं। हमारे शास्त्रकार विवाह को नियम बताते हैं। अवैवाहिक स्थिति को अपवाद। सामान्य व्यक्ति के विकास के दृष्टिकोण से यही समुचित है।

गृहस्थ में जिम्मेदारियाँ बहुत हैं; परन्तु जिम्मेदारियों के विना तो व्यक्ति की योग्यता भी प्रकट नहीं हो पाती। जिम्मेदारियाँ ही हमें काम करने के लिये प्रेरित करती है। हमें नये अनुभव दिलाती हैं। सुख दुःख की समविषम परिस्थितियों में से निकाल कर समता का बीज बो देती हैं। बच्चों की संख्या हमारी इच्छा पर निर्भर करेगी यदि हम ब्रह्मचर्य के आदश को जीवन में घटाने का प्रयत्न करेंगे। और वह आदर्श केवल मात्र इच्छा से नहीं घट पायेगा। उसके लिये सारे के सारे जीवन क्रम को नई दिशा प्रदान करनी होगी।

गृहस्थी के लिये जानने की बात वर्तमान प्रसंग में काम और प्रेम का अन्तर है। प्रेम हृदय का वस्तु है, यह भावों से तृप्त होता है; काम शरीर की (प्राण की) तरंग है वह शारीरिक सम्भोग से क्षण मात्र के लिये तृप्त होती है। प्रेम का पूर्व रूप—नीचा रूप आसक्ति है। हम दूसरे को अपनी पूँजी बनाना

---

१ उलटे उदाहरण

चाहते हैं, अपना अधिकार चाहते हैं और इसका परिणाम होता है किसी न किसी प्रकार से दुःख। सब कोई उस प्रभु के हैं और हमें इस बात का पता उस वस्तु के हम से छिन जाने से ही चल सकता है। दुःख, प्रेम के पूर्व रूप में अवश्य होने वाली घटना है। प्रेम का ऊँचा रूप ही वास्तव में प्रेम है, विशुद्ध प्रीति है। प्रेम अपने को दूसरे के लिये देकर ही कृत कृत्यता अनुभव करता है। आत्मदान इसका मूल मंत्र है। स्वतंत्रता इसका स्वभाव है। और सतत बढ़ता हुआ सुख इसकी पहिचान। प्रेम-पात्र को वास्तव में मृत्यु भी नहीं छीन सकती प्रेम करने वाले से। वह तो उस प्रेम के स्पर्श से ही अमर है प्रेमी के लिये। क्योंकि ऐसा विशुद्ध प्रेम तन की गति नहीं; तन की गति अन्धी होती है। यह मन की भी तरंग नहीं; वह तो संकुचित होती है। वह बुद्धि तथा अहं की भी नहीं; उनमें तो सरसता ही नहीं। यह तो अन्तरात्मा का एकत्व अन्वेषण है--एकत्व प्रतीति है। अन्तरात्मा तो अमर है। वह सदैव है ही। प्रेमी का प्रेम पात्र भी अमर होता है।

विवाह का सम्बन्ध क्षणिक सम्बन्ध नहीं। जो उसे शारीरिक सम्बन्ध ही देखते हैं, जो कामसुख की दृष्टि से ही इसे देखते हैं अथवा अन्य भौतिक सौख्य[1] की दृष्टि से ही इसे देखते हैं उनके लिये यह भी सामान्य सौदा सा सौदा है, एक सामाजिक सौदा है, जिसमें अर्थ गौण[2] है। आजतो विवाह भी एक आर्थिक सौदा समझा जाने लगा है भारत

---

१ सुख। २ धनका नीचा स्थान है, धन मुख्य बात नहीं है।

में भी दहेज प्रथा के कारण। शरीर का सम्बन्ध स्थूल होता है। इसको हम सहज में तोड़ सकते हैं। बाजारी सौदे भी तो बनते बिगड़ते हैं ही। वस्तुएं मोल ली और बेची जाती हैं। परन्तु स्त्री-पुरुष का पाणिग्रहण१ शास्त्र की दृष्टि से एक पारस्परिक सम्मिश्रण है, मन का मन से, बुद्धि का बुद्धि से और अन्तरात्मा का अन्तरात्मा से। तभी तो पत्नी सहधर्मिणी हो सकती है; तभी वह अर्धांगिनी भी हो सकती है। सामाजिक तथा धार्मिक दृष्टि से वह दो होते हुये भी पति पत्नि एक हो जाते हैं। और इतना बड़ा कार्य देवों को, पितरों को (पूर्वजों को) साक्षी मान के किया जाता है, इस पर पवित्रता की छाप लगाने के लिये, इसके महत्व को दोनों के हृदयों पर अंकित करने के लिये। यह नाता यज्ञ के लिये है, प्रभु सृष्टि में योग देने के लिये है, विकास में, भागवत विधान२ में आहुति देने के लिये है।

वास्तव में यह नाता बहुत गहरा है। अन्तरात्म एक दूसरे को ग्रहण करता है। यही सबसे बड़ा सत्य है और वह एक प्रयोजन से-पारस्परिक विकास में योग देने के लिये-योग देते हुये प्रभु के कार्य्य को करने के लिये। जब अन्तरात्मा अन्तरात्मा को ग्रहण करती है भौतिक३ सुख के लिये नहीं, तब भौतिक बातें सभी गौण हो जाती हैं। शरीर का सौन्दर्य, देना लेना, शिक्षा आदि सभी गौण हो जाती हैं। जब स्त्री-पुरुष इस विवाह के ऊँचे उद्देश्य को लेकर ग्रहस्थ धर्म में प्रवेश करते

---

१ विवाह। २ ईश्वर का नियम।
३ सांसारिक।

हैं तो पारस्परिक सामंजस्य की स्थापना भी अधिक सुगम हो जाती है। ऐसे विवाह में उच्छेद के लिये गुंजाइश नहीं। आत्मदान है वह पति-पत्नि का एक दूसरे के प्रति। इसे लौटाया कैसे जाय ?†

यह आदर्श भौतिक त्याग माँगता है। सुखवादी जीवन में यह घट नहीं सकता मुझे यह स्पष्ट कह देना चाहिए। परन्तु है यह बहुत कल्याणकारी, व्यक्ति की दृष्टि से अथवा सामाजिक हित की दृष्टि से। पारिवारिक सौम्यता तथा स्थिरता का इसी आदर्श के आधार पर निर्माण हो सकता है। पश्चिम के सुख-वाद का परिणाम हम देख चुके हैं, पिछले परिच्छेद में।

आज का युवक सिहर उठेगा ? 'सारे सुख स्वप्न धूल हो गये। सभी आशाओं पर पानी फिर गया। कामना थी एक स्वर्ग की रमणी को पाकर स्वर्ग सदृश आनन्द को भूलोक पर भोगेंगे, परन्तु पल्ले में यह क्या कुरूपा पड़ गई ? सोचते थे खूब पढ़ी लिखी आधुनिक महिला को पाकर जीवन धन्य होगा, पर हाय।' इसी प्रकार से युवतियाँ भी पुकार उठेंगी कि यह आदर्श कठोर है। मानव सहज[1] सुखों के लिये यह कोई गुंजाइश नहीं छोड़ता।

पहिली बात तो कहने को यह है कि गृहस्थ सौख्य में ऊपरी बातें जल्दी ही नगण्य[2] हो जाती हैं। अपने चारों ओर यदि गृहस्थियों के जीवन पर आप दृष्टिपात करेंगे तो आपको

---

† स्मृतियाँ विशेष परिस्थितियों में विवाहोच्छेद भी मानती हैं, परन्तु वह सामाजिक हित को आगे रख कर ही। मनुः

१ मनुष्य को प्राप्त होने वाला। २ तुच्छ

पता चलेगा कि इन बातों के न होने पर भी गार्हस्थ जीवन सुखी हो सकता है और इनके होने पर भी क्लेशपूर्ण। दूसरे, इस प्रकार सुखेच्छा व्यक्ति को बहुत दूर ले जाती है पतन के गर्त्त में, और जब वह इस पथ पर चलता है तो पंख रोक नहीं पाता। अतः इस पथ पर चलना ही भला नहीं। आदर्श के लिये जीना ही जीवन की कृतकृत्यता है। वहीं अन्तरात्मा की विशुद्ध प्रीति सम्भव है, और कुछ मनोवांच्छित१ न होने पर भी वह प्रीति ही कल्याणकारिणी है।

आज जनतंत्र का बोल बाला है। समानता जमाने की पुकार है। स्त्री जाति भी समानता की माँग करती है। आज तक जो व्यवहार पुरुषवर्ग से स्त्रीवर्ग के साथ हुआ वह विषमता-पूर्ण रहा है, पश्चिम में भी और पूर्व में भी। मनुमहाराज के कथन* के होने पर भी आज भारतीय समाज में जो स्त्रियों की अवस्था है वह शोचनीय है। स्वतंत्रता होनी ही चाहिए। केवल मात्र जहाँ उस स्वतंत्रता के फलस्वरूप कोई अपने को भयंकर हानि पहुँचाये अथवा समाज के लिये हानिकारक सिद्ध हो वहाँ उस स्वतंत्रता पर रोक होनी चाहिए। स्वतंत्रता से ही अपनी जिम्मेदारी समझ में आती है, और व्यक्ति विकास कर पाता है।

इस समानता की दौड़ में एक बात न भूलनी चाहिए। स्त्री

---

* 'नार्यो यत्र पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवतः। अर्थात् स्त्रियों की जहाँ पूजा होती है वहाँ देवता लोग रमन करते हैं मनुस्मृति।'

१ मन के मुताबिक।

का प्रकृति-नियत१ एक स्थान है। स्त्री के शरीर तथा मन की विशेषतायें। स्वभावतः मानसिक क्षेत्र में स्त्री पुरुष की पूरक है और पुरुष स्त्री का पूरक। अतः वह समान रूप से एक दूसरे के विकास के लिये आवश्यक हैं और समान रूप से परस्पर आदर के पात्र होने चाहिए। यदि अपनी अपनी अच्छी से अच्छी देन दोनों देंगे तो उसमें दोनों का ही हित होगा। यदि स्त्रियाँ अपनी समानाधिकारिता का परिचय अपनी प्रकृति के अवलंघन से देंगी तो उसमें न पुरुषों का हित और न स्त्रियों का ही हित है। समाज के सभी अंग आवश्यक हैं, इसीलिये यह समान व्यवहार तथा अधिकार के पात्र हैं। समाज के सभी अंग अपनी अपनी अच्छी से अच्छी देन समाज को देते हैं इसलिये आदर के पात्र हैं। अपने स्वभाव तथा स्वधर्म का अतिक्रमण२ अपने में तथा समाज में विषमता पैदा करता है।

जो बात समाज के लिये सत्य है वही गाँहस्थ जीवन में भी सत्य है। पत्नि यदि पति के अधीन है तो पति भी पत्नि के अधीन है। पारस्परिक योग, पारस्परिक त्याग ही गाँहस्थय जीवन को कल्याणकारी बना सकते हैं। स्वतंत्रता दोनों को है और पराधीनता भी दोनों को।

(पश्चिम देशों की आर्थिक क्रान्ति ने और इस स्वतन्त्रता की उत्कट लालसा ने पाश्चात्य देशों की अनेक महिलाओं को अपनी

---

१ प्रकृति द्वारा नियत किया हुआ!

२ लांघना

आजीविकोपार्जन[१] के लिये दफ़्तरों और फैक्टरियों में काम करने के लिये बाधित[२] कर दिया है। अपने जीवनमाप को ऊँचे से ऊँचा रखने की इच्छा भी बलवान प्रभाव रहा है। इन सबके फलस्वरूप आज ऐसे पुरुषों और स्त्रियों की संख्या काफ़ी है जो अविवाहित हैं। वे अपनी कामवासना की तृप्ति के लिये अनेक साधन निकालते हैं। समाज में चंचलता, व्यभिचार तथा वेश्यावृत्ति[३] की वृद्धि इसी बात का परिणाम है। विकास की दृष्टि से आदर्श रहित अपने पर लादा हुआ अवैवाहिक जीवन एक अभिशाप है, अपने लिये भी और समाज के लिये भी।'

यदि पति अपनी स्त्री को अपनी पूँजी समझता है अथवा पत्नी अपने पति को अपनी पूँजी समझती है तो दोनों ही इस नाते को भली भाँति नहीं समझे हैं। स्वन्तत्रता के आधार पर प्रीति हो सकती है। परतंत्रता के आधार पर पाशविक कामुकता ही सम्भव है।

कहने का प्रयोजन है कि इस समानाधिकारिता[४] की दौड़ का एक खतरा है। वह यह है कि यदि स्त्रियाँ अपने समाज में स्थान को ही भूल जाँय और पुरुषों के प्रीति एक प्रतिद्वन्दता[५] के भाव को जागृत कर लें तो यह सभी के लिये मानव समाज के लिये अहितकर होगा। समानता होनी चाहिए, परन्तु उसके

---

१ रोजी कमाना। २ विवश। ३ रंडीबाजी।
४ एक से हक होने का भाव। ५ होड़, स्पर्धा

साथ ही साथ समाज में अपनी अपनी ठीक स्थिति को भी पहिचानना आवश्यक है।

काम को वैवाहिक जीवन का लक्ष्य बनाकर चलने का अर्थ है गृहस्थ जीवन की सौम्यता और सौख्य से हाथ धो डालना। सुख के लिये गृहस्थ में प्रवेश करने का तात्पर्य होगा गृहस्थ को जंजाल समझने लग जाना और भाग खड़े होने के लिये तैयारी करनी। सुखी रहने के लिये, सौम्य गृहस्थ जीवन की स्थापना करने के लिये ऊँचा आदर्श, 'गृहस्थ एक धर्म कृत्य है, यह एक भागवत कृत्य[1] है'-यही सामने रखना होगा। सभी विषमतायें[2] हल हो जायेंगी और व्यक्ति इस जीवन से बहुत कुछ सीखता हुआ प्रभु के समीप हो जायेगा। संयम की, शक्ति के परिशोधन की समस्या भी हल हो जायेगी। इस जीवन की सौम्यता के लिये यह भी न भूलना चाहिए कि स्त्री पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं अतः समान हैं सम रूप से आदर पात्र हैं। भागवत-याग[3] में सह धर्मी हैं। स्वातंत्र्यप्रेम तथा विकासकी आवश्यकता है। गार्हस्थ्यसौम्यस्वातंत्र्य की यह आधार शिला है।

------

१ भगवान का कार्य। २ अड़चनें। ३ भगवान का यज्ञ।

सन्तति निग्रह

जन्म मृत्यु के आँकड़ों का निरीक्षण संसार के विभिन्न देशों में नितान्त भिन्न भिन्न स्थितियों को दिखाता है। एक ओर योरुप के वह देश हैं जहाँ जन संख्या को बनाये रखना एक समस्या हो रही है। बच्चे पैदा करने के लिये राज्य शासन की ओर से नाना प्रकार के प्रोत्साहन२ दिये जा रहे हैं। बच्चों की परवरिश के लिये खर्चा मिलता है, और अधिक बच्चे होने पर और अधिक मिलता है। अविवाहित रहने वालों को अविवाहिकता कर देना पड़ता है। इन सब साधनों के बावजूद भी जनसंख्या की समस्या वहाँ घोर रूप में बनी ही हुई है। इसके विपरीत भारत तथा चीन में बढ़ती हुई जन संख्या एक समस्या है। उन लोगों को काम देना और खाने को देना एक बड़ी मुश्किल हो रही है। रूस में संख्या बढ़ रही है परन्तु वहाँ का राज्य शासन बढ़ती हुई संख्या से घबराता नहीं, वह तो उसका पूर्ण रूपेण उपयोग कर सकने के लिये अपने को योग्य पा रहा है।

अर्थ शास्त्र ने जन संख्या के विषय में एक सिद्धांत ढूंढ़ निकाला है। जीवन का मापदण्ड (Standard of life) जितना

---

१ सन्तति निग्रह—बच्चों की संख्या में रुकावट (Birth Control) २ बढ़ावे ।

ऊँचा उठता हैं उतनी ही जनसंख्या में कमी हो जाती है। उसकी बढ़ती कम हो जाती है। और जितना मापदण्ड नीचा होता है उतनी ही अधिक वृद्धि होती है । जहाँ खाने को बहुत कुछ, वहाँ खाने वाले कम; जहाँ खाने को कम, वहाँ खाने वालों का आधिक्य पिछला इतिहास इस बात को सामान्यतया प्रमाणित[1] करता प्रतीत होता है।

जन संख्या की वृद्धि कई बातों पर निर्भर करती है। उनमें सबसे महत्वपूर्ण है काम शक्ति का प्राबल्य । यदि काम शक्ति शारीरिक स्तर में खूब प्रबल हो तो प्रजनन[2] की योग्यता पुरुषों तथा स्त्रियों में अधिक होनी स्वाभाविक ही है । सन्तति केवलमात्र कामुकता पर ही निर्भर नहीं करती। कामुकता का अधिक सम्बन्ध मन के साथ भी रहता है। यह तो निर्भर करती है एक ओर पुरुष के वीर्य की योग्यता पर और इससे भी अधिक स्त्री की प्रजनन सामर्थ्य पर-उपजाऊ-पन पर । जैसे जमीन में जभी बीज बोया जाय उग नहीं आता। एक फसल देने के उपरान्त जमीन आराम मांगती है, दूसरी फसल के लिये तैयार होने को। ऐसे ही स्त्री गर्भाशयादि को भी समय की आवश्यकता होती है। कितनी मात्रा में शक्ति का प्रवाह उन अवयवों में प्रवाहित होता है, इस बात पर निर्भर करता है कि वह कितने समय के बाद गर्भधारण कर सकेगी और कुल कितने गर्भ धारण कर सकेगी। मनुष्य में मानसिक बातें भी इसी विषय में बड़ी प्रभावशाली हो सकती हैं। गर्भ-धारण के विपरीत गहरी धारणा भी गर्भ स्थिति को असम्भव

---

१ साबित । २ बच्चा पैदा करना ।

कर सकती है। हमारे विचार हमारे स्थूल शरीर के अणु अणु को प्रभावित करते हैं, यह एक सुस्पष्ट सत्य है।

जीवन के मापदण्ड के ऊँचे उठने का मतलब है व्यक्ति की तृप्ति के साधनों की वृद्धि। खाना, पहिनना रहने के स्थान का अच्छा होना, शिक्षा का प्रसार और तत्सम्बन्धी रुचियों का जग जाना, मनोविनोद के साधनों का बढ़ जाना, इत्यादि बातें जीवन के मापदण्ड के ऊँचे होने पर हो जाती हैं। व्यक्ति कई तरह से तृप्ति प्राप्त करता है। इन्द्रियों के द्वारा, मन तथा बुद्धि आदि के द्वारा। जैसे जैसे उसकी तृप्ति होती है किसी ऊँचे तरीके से, त्यों त्यों नीचे तृप्ति के क्षेत्रों से शक्ति का प्रवाह खिंच आता है उधर का ही। इसके फलस्वरूप व्यक्ति मे उन स्थूल भोगों की चाह और मांगने की योग्यता स्वतः ही कम हो जाती है। विकास की भी यही मांग है। जीवन के मापदण्ड के ऊँचे होने से जन संख्या की कमी का कारण यही प्रतीत होता है। लोग आनन्द के अधिक सूक्ष्म साधनों को भोगने लगते हैं। शक्ति का प्रवाह स्थूल से लौटने लगता है। प्रजनन सामर्थ्य कम होता है।

मेरा कहने का कदापि यह मतलब नहीं कि लोग ब्रह्मचारी हो जाते हैं। कामुकता भी कम हो जाती हो ऐसी बात प्रतीत नहीं होती। बढ़ती हुई सभ्यता तो विलासिता[१] के साधनों को जुटाती चली जाती है। परन्तु शारीरिक शक्ति भी साथ ही साथ पुरुषों में ह्रसित[२] होती है और स्त्रियों में भी। इस बात का प्रमाण तो आज का भारत ही दे रहा है। इस कमजोरी का

---

१ ऐयाशी। २ कम, क्षीण।

भी सीधा प्रभाव प्रजनन सामर्थ्य पर पड़ता है। गर्भ धारण की योग्यता न होने पर प्रकृति प्रायः गर्भ स्थिति को असम्भव कर देती है।

पाश्चात्य देशों में तो जन संख्या के गिरने के और भी कारण हैं। आर्थिक परिवर्तन से मशीनों का युग आया। संयुक्त परिवारों का विच्छेद हुआ। जीवन का मापदण्ड उठा। लड़कियों को भी अपनी आजीविका बनाने के लिये दफ़्तरों तथा फैक्टरियों में काम करना पड़ने लगा। इसके साथ ही स्वतंत्रता की उद्दण्ड भावना ने भी इस बात को प्रोत्साहित किया और अविवाहित जीवन स्वीकार करने के लिये प्रेरित किया। पुरुषों की संख्या का कम होना भी एक सीमा तक कारण है ही।

इसके साथ ही साथ सामान्य व्यक्ति की आर्थिक स्थिति ऐसी न रही कि वह वर्तमान मापदण्ड में रहता हुआ परिवार का पोषण कर सके। इससे पुरुषों को भी विवाह भार प्रतीत होने लगा और विवाह होने पर बच्चे और भी भार प्रतीत होने लगे। इसके साथ ही परिवार की जिम्मेदारियाँ, बच्चों की देख रेख, और प्रजनन के साथ लगे हुये भय भी एक सीमा तक जनसंख्या को नीचा रखने में कारण हैं ही।

काम सम्भोग की इच्छा तो स्त्री पुरुषों में रही परन्तु सन्तति की इच्छा न रही। फलतः ऐसे तरीके ढूँढ़े गये कि काम सुख तो प्राप्त हो परन्तु किसी प्रकार की जिम्मेदारी न आ पाये। सन्तति निग्रह के उपायों के प्रचार का श्रेय मेरी स्टोप्स नामक एक महिला को प्राप्त है। गर्भपात के बारे में तो चिकित्सा शास्त्र, पूर्वीय तथा पश्चात्य दोनों ही अभिज्ञ थे बहुत काल से ही, परन्तु

गर्भपात के प्रभाव तो स्त्री पर बहुत हानिकारक होते हैं। अतः इसका आश्रय कम लिया जाता था। देशों के कानून भी गर्भपात को जुर्म समझते थे परन्तु वर्तमान प्रचलित साधनों का ध्येय तो गर्भ स्थिति ही न होने देना है।

इन उपायों की सुलभता के कारण पाश्चात्य देशों में अमेरिका में भी इनका उपयोग खूब हुआ है। इन उपायों के फलस्वरूप मनुष्य के हाथ में एक साधन ऐसा आया है जिससे वह प्रकृति के नियमों का अवलंघन१ कर सकता है, समाज की मर्यादाओं को भी भंग कर सकता है और समाज की दृष्टि से और बच्चों के पालने की जिम्मेदारी से भी बच सकता है। सुख प्रिय मानव ऐसे उपाय को क्यों न अपनायेगा ?

परन्तु मनुष्य अपने को ठग सकता है, प्रकृति तो कीमत पूरी ले लेती है। इन उपायों से काम की शान्ति नहीं होती, वह और भी भटकता है। कामोपभोग की गति दुर्बल करती है स्त्री तथा पुरुष दोनों को। प्रजनन सामर्थ्य जिसका स्त्रीं पुरुप तिरस्कार करते हैं उनसे धीरे धीरे छीन लिया जाता है। कुछ पीढ़ियों के बाद यदि यह सामथ्य पूरी तरह से छीन लिया जाय और स्त्रियाँ प्रजनन सामर्थ्य से रहित हो जायँ तो विस्मय न होगा। जन संख्या की कमी में मैं इसे एक महान् कारण समझता हूँ। प्रकृति का नियम भी ऐसा कहता है। हम जिस शक्ति का उपयोग करना बन्द कर देते हैं वह क्षीण होने लगती है। चलना बन्द कर देने से टांगे, देखना बन्द कर

---

१ तोड़ना, न मानना।

देने से आँख, और हाथ न चलाने से हाथ के पट्ठे दुबल होते चले जाते हैं।

कृत्रिम[1] उपायों से संतति निग्रह का अर्थ है व्यक्ति उस अवसर को खो देना चाहता है जो काम शोधन के लिये उसे मिला है। संयम का पाठ वह पढ़ना ही नहीं चाहता। और, यह पाठ न पढ़ता हुआ वह कामोपभोग को ही जीवन आदर्श मानकर चलना पसन्द करता है। यह जीवन पाशविक जीवन है। जिस जीवन में अग्रगति की सम्भावना ही नहीं रही है वह मानव जीवन कैसा? हम शक्ति को ऊपरी क्षेत्रों की ओर मोड़ना नहीं चाहते, वह मुड़ेगी कैसे? हम इस प्रकार अपने लिये स्वयं जाल फैलाते हैं इन संतति निग्रह के कृत्रिम उपायों को बरत कर।

आप पूछेंगे "तो क्या बच्चों को पैदा करते चले जाँय? कौन करेगा पालन पोषण उनका? यहाँ खाने को अपने को काफी मिलता नहीं, और बच्चे होंगे तो भूखों मरना होगा?" यह सभी कुछ सत्य है। सन्तति निग्रह तो हो ही। इससे कोई विरोध नहीं। सन्तान उतनी ही ठीक है जितनी को ठीक तरह से पाला पोसा जा सके। उससे अधिक सन्तति सभी के लिये दुःख का कारण है। ऐसी सन्तति समाज की भी अच्छी घटक नहीं बन पाती। परन्तु, सन्तति निग्रह स्वाभाविक तरीके से ही होनी चाहिए। स्वाभाविक तरीका है प्रकृति के नियम का पालन। सन्तति के लिये ही कामसम्भोग, ऋतु काल के अनुसार। गर्भ स्थापना ही उसकी अवधि[2] है। ऐसे ब्रह्मचारी

---

१ बनावटी; जो कुदरती न हों।

२ मियाद

गृहस्थी अमोघ-वीर्य कहे जाते हैं। उनका वीय व्यर्थ नहीं जाता।

यह बात बहुत ऊँची दीखेगी। परन्तु घबराने की आवश्यकता कदापि नहीं। ऊँचाई भी चढ़ते चढ़ते नीचाई हो जाती है। यदि जीवन को हम ढालने की चेष्टा करेंगे तो अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा है। आने वाली सन्तान को यदि हम इसके लिये तैय्यार करेंगे तो इस प्रकार का संयम उनमें सहज हो जायेगा। यह कहा जायेगा कि स्त्री संग में होने पर (अथवा पुरुष संग में होने पर) अपने को काबू में रखना सदैव तो सम्भव नहीं। बड़े-बड़े संयमी तपस्वी पतित हो गये, इतिहास पुराण इसके साक्षी हैं। अपनी गलती का फल तो बहुत बड़ा होता है; इतनी जिम्मेदारी आ जाती है जो निभाये नहीं निभती परन्तु यह सभी निरुत्साह की, आगे न बढ़ने की; आराम के मार्ग को ढूँढ़ने की बातें हैं। मैं जानता हूँ गृहस्थों को जो संयम में रहते चले आये हैं। हमें प्रयत्न करना होगा। इस समस्या को विशाल साधन के दृष्टि कोण से देखना होगा। अपने आहार-विहार को खान-पान को—सारे जीवन क्रम को ही इस नये दृष्टि कोण से बदल डालना होगा। अपनी शक्ति के परिनाह[१] के लिये पुरुषार्थ करना होगा। भगवान् के सामीप्य को अनुभव करके का यत्न करना होगा। तभी यह सम्भव होगा। उस अवस्था तक पहुँचने में जो जिम्मेदारी आप पर आ पड़े उसे निभाना ही होगा और सहर्ष। इसके अलावा और कोई उपाय नहीं। इधर भी गड्ढा है और उधर भी! काम सुख के लिये जीना और सन्तान को अन्धाधुन्ध पैदा करते चले जाना

---

१ बढ़ती

हानिकर है। काम सुख के लिये जीना और कृत्रिम उपायों द्वारा उस सुख की कीमत से बचने की चेष्टा करनी भी खतरनाक है, पशुत्व को पाना है। वस्तुतः काम सुख के लिये कामोपभोग ही गलत है। इसी से छुटकारा पाना चाहिए। क्योंकि कृत्रिम उपायों के बर्तने में हम इससे छूट नहीं सकते हैं काम सुखेच्छा से परे नहीं हो सकते इसलिये कृत्रिम उपायों से बचे रहना ही उचित है। इस प्रलोभन में आदर्श का बह जाना स्वाभाविक है और यह घोर आघात होगा मनुष्यता पर।

पाठकों-और-पाठिकाओं! जो आप इस विचारधारा को समझने की योग्यता रखते हैं तो निश्चित ही आप इस पर अपने को आरूढ़ भी कर सकते हैं। इतना बौद्धिक विकास ही इस बात का प्रमाण है।

तरीका है बुद्धि से बात को स्पष्ट रूप से समझ लेना, उसके महत्व को जानना। हम इसका पालन करें तो क्यों? सोच समझ कर निश्चय करना चाहिए और फिर इस समस्या पर विचार करना। प्रतिकूल विचारों की ओर ध्यान देना गलत है। इससे निश्चय क्षीण होता है और उलझन पनपती है। इस आदर्श की प्राप्ति के लिये जो कुछ वाञ्छित हो उस पर तैयार होना चाहिए। भोग लालसा को यदि व्यक्ति न्याय[1] समझता है तो वह कभी भी इस काम शोधन के कार्य्य में सफल न हो पायेगा।

संयम के लिये कुछ सहायक हो सकने वाली बातों की चर्चा महात्मा गान्धी जी ने 'अनीति की राह पर' नामक ग्रन्थ

---

१ न्याययुक्त।

के प्राक्कथन[१] में की है। उनमें मुझे इतना ही यहाँ सुझाना है कि पति पत्नि यदि अलग कमरे में सोया करें तो प्रलोभन कम हो सकता है बाकी बातें मैं पहले ही कह आया हूँ।

असंयम से संयम पथ पर आने पर बहुत सम्भव है कि वीर्य स्वप्न दोषों के रूप में निकलने लग जाय। कई लोग सोचते हैं कि वीर्य का नाश तो होता ही है, अतः सम्भोग ही क्यों न किया जाय। यह जहाँ पर संतति निग्रह की दृष्टि से गलत है वहाँ संयम की दृष्टि से भी बिल्कुल गलत है। काम-सम्भोग का सुख ज्ञानतन्तु[२] आश्रित शक्ति के महान व्यय पर निर्भर करता है। वह वास्तव में सारे सिस्टम को हिला देता है। वीर्य का जाना तो गौण बात है। शुक्रग्रन्थियाँ तो माँग के मुताबिक वीर्य बनायेंगी। काम-सम्भोग नई माँग पैदा करता है-वह मांग को बढ़ा देता है, अतः सम्भोग के पथ पर चल कर तो शुक्र ग्रन्थियों के स्वभाव में परिवर्तन असम्भव है। इसलिये यदि संयम पूर्वक रहने से वीर्य स्वप्न दोष द्वारा जाता है तो किसी प्रकार की चिन्ता न करनी चाहिए। यह रोग नहीं है। समय पाकर यह दूर हो जायगा। एक और पट्ठों में अधिक धारण शक्ति आ जायेगी, और दूसरी ओर शुक्रग्रन्थियाँ वीर्य का उस मात्रा में निर्माण करना छोड़ देंगी। अपने आप ही यह दोष दूर हो हो जायेगा।

वीर्य नाश से होने वाली हानि की अपेक्षा वह हानि जो उस विषय में चिन्तित अथवा भयभीत होने से होती है कहीं

---

१ भूमिका। २ ज्ञान की नसो पर जिसका आधार है।

अधिक है। इस विषय में न चिन्ता करने की आवश्यकता है और न भय भीत होने की। हम अपने जीवन क्रम को सुव्यवस्थित[1] कर डालें अपने खान-पान को हल्का, सादा तथा पूर्ण रूपेण अनुत्तेजक[2] तथा मात्रा में संयम[3] कर लें, अपने विचारों को ऊँचे से ऊँचे स्तर पर रखने की कोशिश करें, संगति को ऊँचा करें और प्रसन्न रहें प्रभु नाम में रमण करते हुये। बस, जितना कुछ हमारे हाथ में है वह हम करें। वीर्य दोष अपने आप ही दूर होगा, मन स्वतः निर्मल होगा और बुद्धि की भी शुद्धि होगी। जैसे समुचित कारण से कार्य होता ही है, हम उस बारे में सोचें अथवा न सोचें, इसी प्रकार से इन सब बातों का हम पर प्रभाव होगा ही। हमें सोचने की आवश्यकता नहीं। हम शक्ति का रचनात्मक उपयोग कर सकते हैं और हमें करना चाहिए ही।

दवाइयों का सेवन सामान्यतया त्याज्य ही है। उससे और भयंकर रोग पैदा होने की सम्भावना रहती है।

---

१ नियमों के अनुसार। २ जोश पैदा करने वाला। ३ वश में किया हुआ।

१४

महान मातृत्व की ओर

स्त्रीत्व की महिमा बहुत ऊँची है। इस विशाल विश्व में स्त्री एक महान स्थान को रखती है। समाज के व्यवहार ने, स्त्री की अबलता ने, और इस विषय पर विचार की शून्यता ने स्त्रियों में प्रायः स्वाभिमान को पनपने नहीं दिया अथवा पनपते हुये को दबाया है। भारतीय समाज में आज भी कन्या की उत्पत्ति वैसी हर्षप्रद नहीं समझी जाती जितनी पुत्र की उत्पत्ति। उसमें आर्थिक कारण है, और सामाजिक कारण भी परन्तु वही समाज दुर्गा का पूजन कन्या में करता है। वही समाज सीता तथा सावित्री के आगे मस्तक नवाता है। वही समाज 'मातृ देवी भव' 'माता को देवता समझ' कहता है।

मातृत्व का सौभाग्य स्त्री को ही प्राप्त है, पुरुष को प्राप्त नहीं है। सब को माता गर्भ में 'माप' देती है; तभी तो वह माता है। वह जन्मदात्री[१] है--शरीरदात्री[२] है। इतना ही नहीं, माता के स्तन[३] पान से तन पोषित होता है और मां के प्रेम से यह तन ही नहीं, प्राण तथा मन भी पनपता है।

मातृत्व जिम्मेदारी भी बहुत बड़ी है। वीर मातायें, वीरप्रसू[४] मातायें देश जाति के भविष्य को बदल सकती हैं। संसार के

---

१ जन्मदेने वाली। २ शरीर देने वाली। ३ दूध पीना। ४ वीर पुत्र पैदा करने वाली।

सभी महापुरुष, सन्त तथा वीर ज्ञानवान् तथा कर्म शील सभी के सभी माँ के गर्भ से जन्मे हैं। माता से संस्कारों को भी पाया है। मातायें भविष्य की निमाता[१] होती हैं। इसलिये भी माता का विशेषमान है। इसलिये जिम्मेदारी भी बहुत बड़ी है। वह चाहें, और योग्यता पूर्वक प्रयत्न करें, तो अपनी सन्तान द्वारा क्या नहीं करवा सकतीं ? माँ का बल उसकी सन्तान है।

आज यह दीखता है कि स्त्रियों पर भी पाश्चात्य विचारधारा का प्रभाव मातृत्व के क्षेत्र में पड़ रहा है। युवतियाँ विवाह से घबराती हैं। कपड़े तथा गहनों का चाव सुख सम्भोग का भाव ही प्रेरित करें तो करें, परन्तु विचारशील युवतियाँ तो इन प्रलोभनों से भी परे ही रहना पसन्द करती हैं। "स्वतंत्र आजीविका में यह सभी कुछ है, और विवाह का बन्धन नहीं, गृहस्थी का भी कचड़ा नहीं। क्यों पड़े इस गर्त में" ? ऐसी विचार परम्परा कइयों के हृदय में जग जाती है।

भारतीय समाज विवाह को अनिवार्य समझता चला आया है, पुरुष तथा स्त्री दोनों के लिये। वह एक ऋण से पितृ ऋण से मुक्त होने का उपाय है। धर्म है। हमें शरीर दिया गया है, हम औरों को शरीर प्रदान कर इस ऋण से मुक्त होते हैं। मनुष्य भगवती विकास-क्रम को भी इसके द्वारा सहायता करते हैं, ऐसा विचार स्थिर रहा है। आज की आर्थिक परिस्थितियाँ, दहेज की प्रथा, बढ़ता हुआ जीवन का मापदण्ड, स्वतंत्रता की

---

१ बनाने वाली।

जगी हुई भावना, और जन संख्या की वृद्धि, उन बातों को बदलती हुई दिखाई देती है प्रत्येक विचार शील युवती के सामने यह सोच आता ही है।

जनसंख्या बढ़ रही है अतः हम विवाह न करें इस धारणा को प्रधान समझ कर अविवाहित जीवन स्वीकार करने वाली युवतियों की संख्या नगण्य होगी। शायद कोई भी ऐसी न मिल पाये। हम बहुत अधिक व्यक्तिगत[१] दृष्टिकोण से देखने का स्वाभाव बना चुके हैं। अब रहा वैवाहिक परतंत्रता का भय और दूसरी ओर स्वापार्जित[२] आजीविका का सुख। यह प्रलोभन है दोष पूर्ण, मुझे यह कह देना चाहिए। व्यक्तित्व के सामान्य विकास की मांग है पारस्परिक सम्बन्ध। उसमें परतंत्रता तथा स्वतंत्रता दोनों ही होती है और दोनों ओर से ही नितान्त[३] स्तंत्रता से कोई नाता नहीं निभ सकता, गृहस्थ का निर्माण नहीं हो सकता और न ही बालकों का समुचित पोषण। गार्हस्था जीवन को नितान्त स्वतंत्रता बरबाद कर देती है। एक क्षेत्र है जिस क्षेत्र में पति को स्वतंत्रता है और एक क्षेत्र में उसको परतंत्रता। इसी प्रकार से पति के लिये भी। पढ़ी लिखी युवतियाँ अधिक अच्छा गृहस्थ बनाने के योग्य होनी चाहिए। परन्तु स्वतंत्रता की उच्छृखलेच्छा[४] उसको स्वप्न मात्र बना डालती है, बहुत सी जगह। परस्पर संघर्ष ही उसका परिणाम होता है और वह कुछ जो गृहस्थ से सम्भाव था वह अन हुआ

---

१ केवल अपने लाभ हानि का विचार। २ अपने प्रयत्न से पैदा की गई। ३ केवल ४ मनमानो।

ही रह जाता है। मेरा निरीक्षण तो ऐसा कहता है कि अधिक उच्च शिक्षा प्राप्त युवतियाँ वैसा अच्छा घर नहीं बना पाती हैं, उच्च शिक्षा प्राप्त पति मिलने पर भी। उसका कारण समुचित मनोवृति का अभाव ही दिखाई पड़ता है।

यदि धर्म की भावना—'गृहस्थ एक कर्तव्य है—धर्म कृत्य है'[1] प्रबल रहे तो स्वतंत्रता-परतंत्रता का प्रश्न हल हो जाता है। एक मार्ग दर्शक[2] प्राप्त होता हैं जिससे पथ का निर्णय हो पाता है। तब व्यक्ति की, पति अथवा पत्नि की, अभिरुचिमात्र[3] ही निर्णायक नहीं रहती।

शायद यह कहा जाय कि हम में यह भावना हो भी तो पति में यह भावना होगी ही यह कैसे कहा जा सकता है ? न होगी तो पैदा करनी होगी। पत्नि पति को बदल सकती है, एक बड़ी सीमा तक और पति-पत्नि को वह भी एक हितकर प्रयास होगा। काम सम्भोग के बारे में भी, यही बात पूरी तरह से लागू है।

अपने तन को पवित्र रखना और अपने मन को अछूता यही सुन्दर आदर्श है। कन्या के लिये कौमार्य[3] बहुत कीमती है। वह इसको खोकर अपने भविष्य को मलिन कर सकती है। वैवाहिक जीवन भी एक अभिशाप रूप सिद्ध हो सकता है उसके लिये। इसके बिना पवित्र मातृत्व प्राप्त न हो पायेगा। मातृ तेज और सतीत्व का अदम्य प्रभाव भी नहीं होगा। ब्रह्मचर्य कन्या के लिये उतना ही आवश्यक है जितना कुमारों के लिये।

वैवाहिक जीवन जहाँ विकास के लिये एक अद्भुत अवसर प्रदान करता है वहाँ साथ ही साथ इस जीवन यात्रा को भी

---

[1] रास्ता दिखलाने वाला। [2] २ पसन्द [3] कुमार पना

सुगम कर देता है। रक्षा की दृष्टि से, अर्थ की दृष्टि से। परन्तु इतना ही नहीं।

वैवाहिक जीवन भागवत प्रदत्त[1] उत्पादिनी शक्ति के उपयोग का क्षेत्र है। एक समय था जब वेद के ऋषि देवताओं से पुत्रों की याचना करते थे! परन्तु आज परिस्थिति भिन्न है। आज सन्तति पर रोक की आवश्यकता है, परन्तु उसके तिरस्कार की आवश्यकता कदापि नहीं। सन्तति से जिम्मेदारी होती है, परन्तु जिम्मेदारी तो समाज के प्रति देनदारी है। यदि समाज ने आपको तन दिया है तो आपका कर्तव्य भी हो जाता है कि दूसरों को तन देकर समाज में प्रविष्ट करें। यह एक पवित्र सामाजिक कृत्य भी है और भागवत कृत्य भी। और इसके साथ जुड़ा है पवित्र मातृत्व, जिसका त्याग और जिससे होने वाली शान्ति माँ ही पूरी तरह से जानती है। दूसरे अनुमान मात्र कर सकते हैं।

परन्तु आज एक और प्रभाव दिखाई पड़ने लगा है। क्लब का प्रेम, पार्टियों का रंग विलास तथा अन्य आमोद प्रमोद हमारी माताओं के मन का भी इतना हरण करते हैं कि मातायें दूध पिलाने को कष्ट कर समझती हैं। धाया इस काम को करे अथवा किसी अन्य प्रकार से पोषण हो! बच्चे को पैदा करना मात्र ही उनका काम है। उनकी दृष्टि में और उससे भी छुट्टी हो सके तो ठीक। यह स्वार्थपरता और इस काम के प्रभावों को न जानने का फल है। माता दूध ही केवल नहीं देती अपने स्तनों से, उसके प्रेम का प्रवाह उसके तन और मन दोनों को

[1]भगवान से दी गई

पुष्ट करता है। वह बालक में कोमलता ला सकता है, माता के प्रति प्रीति और ऊँचे त्याग की भावना को जागृत कर सकता है। वही भावनायें विकसित होकर समाज तथा राष्ट्र में केन्द्रित हो सकती हैं। बेपरवाही करने से स्वार्थी मातायें बालक को अनजाने ही स्वार्थी तथा निठुर बना दें और वह बड़े होकर राक्षसों की तरह व्यवहार करें, समाज में भी और घर में भी तो क्या विस्मय ? माता का मातृत्व पोषण में भी है, प्रजनन से ही वह समाप्त नहीं होता। 'माँ' माँ होने के नाते अनेक ऊँची भावनाओं का आधार है और उसे अपने बच्चों के लिये, और उस समाज के लिये, और अपने लिये भी अपने को उनके योग्य बनाना होगा। अपने सुख को आगे रखने वाली स्त्रियाँ मातृत्व के महान पद से गिर जाती हैं। प्रेम तथा त्याग ही तो माँ को माँ बनाते हैं। यही संसार के सभी नातों में मातृत्व को पवित्रतम[1] बना देते हैं। पितृत्व तो इसके सामने कुछ भी नहीं।

कन्याओं को महान मातृत्व के लिये अपने को तैय्यार करना होगा। केवलमात्र तन की पवित्रता और मन की निर्मलता काफी नहीं। बुद्धि की प्रखरता[2] और हृदय की द्रविकता[3] भी तो अनिवार्य है। हमें आज नव राष्ट्र के निर्माण के लिए अशिक्षित मातायें नहीं चाहिए। शिक्षिता मातायें और अपनी जिम्मेदारी को समझती हुई, बाल पालन-पोषण से भिज्ञ[4], बालमनोविज्ञान की वेत्ता[5], सौम्य पवित्र गृहस्थ बनाने की योग्यता रखती हुई और त्याग की मूर्ति माताओं की आवश्यकता है।

---

[1] सबसे अधिक पवित्र। [2] तेजी। [3] रस, प्रेम। [4] समझने वाली।
[5] जानने वाली।

ऐसी मातायें हों जो स्वतंत्रत भारत की संतान को प्रगट करने के योग्य हों। जिनके स्मरण से सन्तान का मस्तक ऊँचा हो जाये। जिनके स्मरण से पुत्र तथा पुत्रियाँ सहज में आदर से सिर झुका दें। देव मातायें[1]! देवियाँ!

इसकी तैय्यारी कौमार्य से होती है। जब तक कन्या समझने के योग्य न हो तब तक इस काम को माता-पिता करवायें। और कन्या समझने लगे तो वह स्वयं करें। व्यभिचार तो स्त्री को माता कहलाने के योग्य नहीं रहने देता। तन बलिष्ट होना चाहिए और मन भी। स्वास्थ्य की रक्षा मुख्य है। बीमार मातायें, रक्तहीन मातायें वैसी ही सन्तान पैदा करेंगी। खान-पान स्वास्थ्यकर हो, केवल जिह्वा के रस का पोषक न हो। उससे तन भी नहीं बनता, मन भी बिगड़ता है। चटोरी माँ चटोरे बच्चे पैदा कर सकती हैं। मन को पवित्र करना होगा। प्रभु की भक्ति से, प्रार्थना से, प्रीति से, और सेवा से, दीन दुःखिया की और भाई बन्धु की। बलिष्ट मन बल का अक्षय[2] स्रोत होता है। मनोबली[3] बालक ऐसी मातायें से ही प्रकट हो सकते हैं। बुद्धि को भी तीव्र करना होगा, परन्तु तीव्रता के लिये ही नहीं। उन सभी बातों को जानने के लिये जिनसे माता अपनी जिम्मेदारी को पूरा कर सकती है, अपनी गृहस्थी के प्रति, अपनी भावी सन्तति के प्रति योग्यतोपार्जन परमावश्यक है। तिस पर चाहिए आत्मिक बल। अपने में निष्ठा-स्वाभिमान।

---

[1]दिव्य सन्तान पैदा करने वाली मातायें। [2] जिसका नाश न हो।
[3] बलवान मन वाले।

हमें डाक्टर माताओं की, वकील और इंजनीयर माताओं की आवश्यकता नहीं। हमें आवश्यकता है पहले माताओं की। यदि स्त्री माता हो सकती है तो वह बहुत है। यदि वह ना मातहीं बन सकती तो वह कितनी भी योग्य क्यों न हो वह राष्ट्र की दृष्टि से अयोग्य है। वह अपने कर्तव्य को नहीं कर पा रही है। वह अमूल्य देन जो राष्ट्र को दे सकती थी वह उससे राष्ट्र को वंचित कर रही है। मातृत्व महान ही नहीं, महत्तम[१] है।

माताओं, मत समझो कि सन्तान तुम्हारी ही है। तुम्हारी है, इससे कौन इनकार करता है। परन्तु उस पर समाज का भी अधिकार है, राष्ट्र का भी अधिकार है और है भगवान का भी अधिकार! यही मातृत्व मोह का इलाज है।

एक ही समस्या बाकी है। क्या स्त्री के लिये अविवाहित जीवन के लिये गुंजाइश ही नहीं? हाँ है। पहिले अपने हृदय से पूछना चाहिए कि अविवाहित रहने के लिये क्या प्रेरणा है? क्या परतंत्रता का भय है? क्या स्वछन्द सौख्य की लालसा है? क्या परिवार का भय है? यदि ऐसा है तो आपके लिये अच्छा होगा कि आप गार्हस्थ्य को ही स्वीकार करें। यह सभी भय भाग जायँगे। अवैवाहिक जीवन उत्कट लगन को चाहता है, किसी बहुत ऊँचे लक्ष्य के लिये जिससे काम शक्ति का परिनाह सहज में हो जाय। ऐसी लगन निःस्वार्थ सेवा में अपने को गला देने की हो सकती है। अथवा प्रभु के समीप्य की व्याकुल कर रखने वाली तड़प ही हो सकती है। इससे नीचे

---

[१] सबसे ज्यादा महान।

की सभी प्रेरणायें व्यक्ति को इस योग्य नहीं बनाती हैं कि वह अवैवाहिक जीवन को ग्रहण करे। यदि ऐसा किया जायेगा तो जीवनपथ भ्रष्ट हो सकता है और समाज में विषमता का कारण हो सकता है। यदि ऐसा न हो तो काम शक्ति के दबाव के कारण व्यक्ति अपने विकास का बाधक ·तो हो ही जाता है। मन रोगी हो जायेगा, आत्मा दब जायेगा।

अविवाहित रहकर महान् मातृत्व का परित्याग करना खेल नहीं है। वह वास्तव में किसी ऊँचे लक्ष्य के लिये ही किया जाना चाहिए। 'नहीं तो उसका तिरस्कार व्यक्ति को तिरस्कृत कर देता है, विधाता के विकास के विधान की दृष्टि से।

—:*:—

१५

युवा बन्धुओं से।

यौवन के आगमन के साथ ही काम वासना जग जाती है। इस अवस्था में अद्भुत शक्ति की प्रतीति होती है। वह शक्ति प्रकट होना चाहती है। यदि उसे रचनात्मक मार्ग पर न ले जाया जाय तो वह अवांच्छित रास्ते पर व्यक्ति को ले चलती है। ऐसा होना व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिये अहितकर होता है। यदि आज कालिजों का वातावरण दूषित दिखाई पड़ता है तो उसमें प्रधान कारण यही है। यौवन की प्रबल शक्ति के लिये प्रबल मार्ग नहीं खोले जाते।

नौकरी करने के लिये पढ़ना, पढ़ाई में रुचि को परीक्षा तक सीमित कर देता है! किसी प्रकार से पास हो जाना ही आदर्श सर्वसाधारण के सामने रह जाता है। स्टैण्डर्ड इतने है कि पास होने के लिये साल भर काम करने की आवश्यकता नहीं। परीक्षा के समय से कुछ महीने या कुछ सप्ताह पूर्व काम करके साधारण विद्यार्थी पास हो जाता है। उसकी शक्ति पर परीक्षा काफी मांग नहीं होती है। इसके अतिरिक्त दूसरी किसी प्रकार की रुचि जिसमें परिश्रम करना पड़े—विशेष अध्ययन आदि उत्पन्न नहीं की जाती। कालिजों में जितना अधिक काम, परीक्षा के लिये पढ़ाई के अतिरिक्त होना चाहिए उसका प्रायः दशांश भी नहीं होता। सामाजिक प्रोग्राम, शिष्ठ-गोष्ठियाँ; भाषण, भ्रमण, आदि गैर जरूरी बातें समझी जाती हैं। ऐसी अवस्था में विद्यार्थी का दिमाग खाली रहता है। जगती हुई कामवासना

के कारण बढ़ती हुई शक्ति के लिए उत्पाती रास्ते—ध्वंसात्मक रास्ते ढूंढ़ निकाले जाते हैं। छेड़-छाड़ तोड़ फोड़ और गप्प, शप्प और बिना विवेक मनोविनोद देखने में बहुत मिलता है।

समझदार युवकों को यह जान लेना चाहिए कि उनके पास अद्भुत शक्ति है। यदि वह इसको रचनात्मक रास्ते में बरतें तो वह कामोत्पात[1] से ही मुक्त न हो जायँगे, अपितु इतना कुछ अपने में पैदा कर सकते हैं जिससे उनका भविष्य बन जायेगा।

समय और शक्ति ही व्यक्ति का धन है। खाली रहना समय को नष्ट करना है। इतना ही नहीं, मनोविकारों को भी मोल लेना है। खाली दिमाग शैतान का घर होता है, उत्पात ही सूझते हैं। अतः खाली न रहना चाहिए। और काम में लगे रहने के लिये धनात्मक[2] रुचियों को जगाना होगा। विद्यार्थी अवस्था में वास्तविक योग्यता लाभ करना, समझ और ज्ञान पा लेना, उत्तम आदर्श है। केवलमात्र परीक्षा के लिये जो पढ़ते हैं वह तो संकीर्ण[3] आदर्शवाले हैं। हम अपने विषयों में ऊँची से ऊँची योग्यता लाभ करने के उद्देश्य को लेकर चलेंगे तो परीक्षा अपनी चिन्ता स्वयं करेगी। पास हो जाना हमारे लिये महत्व की बात न रह जायगी। अतिरिक्त[4] अध्ययन जिससे हमें संसार के बारे में बोध हो पाये परमावश्यक है। पाश्चात्य देशों के उसी आयु वाले सामान्य विद्यार्थी का बोध भारतीय विद्यार्थियों से, कहीं अधिक होता

---

[1] काम सम्बन्धी झगड़े या समस्यायें। [2] ठोस काम करने की। [3] तंग, तुच्छ। [4] कोर्स के बाहर का

हैं। इसके अतिरिक्त ललित [५] कलाओं की प्रीति, उनमें रचना भी बहुत संस्कार का कारण हो सकती है। भोजन, व्यायाम, सामाजिक व्यवहार और व्यक्तिगत संस्करण (आत्म शोधन) के बारे में सामान्य बोध तो सभी को होना ही चाहिए।

क्या आप समझते हैं कि आप समय बरबाद करते हैं तो अपना ही बिगाड़ते हैं और किसी का नहीं? वस्तुतः आप अपना तो बिगाड़ते हैं, आप अपने समाज और राष्ट्र की भी हानि कर रहे हैं। आप जैसे युवकों से ही तो राष्ट्र बनता है। यदि उनके समय बरबाद करने से वह मूर्ख, अशिष्ट और आलसी बनते हैं तो भविष्य का राष्ट्र भी उसी तरह का होगा। यदि राष्ट्र के घटक पुरुषार्थी बोधवान तथा सुलक्ष्य हैं तो रष्ट्र का भविष्य स्वतः उज्जवल होगा। आज संसार की दौड़ में हम अपने को पछड़ने नहीं दे सकते। और इस बात की देनदारी आज के युवकों पर है। वह राष्ट्र के निर्माता हैं, वह केवलमात्र व्यक्ति ही नहीं हैं। यदि इस महान जिम्मेदारी को समझ कर पल-पल का समुचित उपयोग होने लगेगा तो जल्दी ही भारत की दशा कुछ और हो जायेगी।

जिस राष्ट्र के युवक कामचोर हैं, केवल मात्र फल पर गीध की भाँति नज़र रखते हैं, जिनमें त्याग तथा कर्तव्य की भावना नहीं जगपाई उसके भविष्य की कल्पना करनी कठिन न होगी। ऐसे युवक राज्य शासन में सत्ता को पाकर उसका दुरूपयोग करें तो क्या विस्मय? यदि ऐसे व्यक्ति घूसखोर हों तो क्या

---

[५] सुन्दर कलायें—चित्र कला इत्यादि।

आश्चर्य ? यदि ऐसे युवक व्यापार में पड़ कर दगेबाज व्यापारी हों और अपने तथा अपने राष्ट्र को कलंकित करें तो स्वाभाविक ही है। जैसे युवक हैं वैसे ही वह समाज के नागरिक भी होंगे और राष्ट्र भी वैसा ही होगा।

युवकों के कन्धों पर भविष्य का राष्ट्र खड़ा किया जाने वाला है। बूढ़े बूढ़े सभी चल देंगे। यदि इस महान् जिम्मेदारी को अनुभव करते हुये अपने को तैयार करने की चेष्टा नहीं की जायेगी तो हमारा और भारत का भविष्य अन्धकार पूर्ण होगा।

शक्ति का दुरुपयोग ध्वंसात्मक होता है। शक्ति तो जाती ही है, व्यक्ति साथ ही बुरी आदतें भी सीखता है। यदि आज का युवक युवा बहनों से समुचित सशिष्ट व्यवहार कर नहीं सकता, तो यह एक ओर शक्ति के दुरुपयोग का परिणाम है और दूसरी ओर उसी से होने वाली विचार-हीनता का। शक्ति का दुरुपयोंग है उसे गप्प-शप्प में, भद्दी भद्दी पुस्तकें पढ़ने, और भद्दी भद्दी तस्वीरें देखने में लगा देना। उनसे बुरे सस्कारों का उपार्जन किया जाता है। वैसे संस्कारों के साम्राज्य में विचार शीलता पनपे तो कैसे ? सभ्यता की मांग है, कि युवक युव बहिनों की, सहपाठी अथवा अन्य बहिनों की, लज्जा की रक्षा करने वाला हो। वह उनकी लज्जा पर हाथ डालने वाला न हो शिक्षित होने का अर्थ यह कदापि नहीं कि व्यक्ति भ्रष्टाचारिता को सीख ले।

इस प्रकार की बातें जो आज हमें दिखाई देती हैं उसमें केवल मात्र यौवन का ही दोष नहीं। उसमें महान दोष है

ऊँचे आदर्श के अभाव का। यदि कोई ऊँचा आदश, कोई ऊँचा दृष्टि कोण युवकों के सामने नहीं आता है तो ऐसा व्यवहार किसी विस्मय का कारण न होना चाहिए। जरूरत है इस समय कालिजों-स्कूलों के वातावरण को बदल डालने की। समझदार विद्यार्थी तथा शिक्षक इस कार्य को भली भाँति कर सकते हैं।

यौवन युग[1] की उथल पुथल का इलाज, वैसे भी यही है कि किसी आदर्श को अपनाया जाये पूरे दिल से। वह आदर्श विद्यार्थी जीवन से मेल खाता हो। वह व्यक्ति के व्यक्तित्व को उठाये और समाज के लिये हितकर हो। दूसरा खूब परिश्रम आवश्यक है। और बातें मैं ऊपर लिख ही चुका हूँ।

अब रहती है विवाह की समस्या। मेरे युवक-बंधु प्रायः उपन्यासों अथवा सिनेमा की नायिकावों से अपनी सहधर्मिणी तथा वैवाहिक जीवन का स्वप्न-संसार बनाते हैं। यह अवस्था अनुभव से सून्य अवस्था होती है। इस बात का बोध नहीं होता कि एक सिनेमा में काम करने वाली एक अच्छी गृहणी हो भी सकती है कि नहीं। वास्तव में जिस संसार का युवक निर्माण करते हैं उसका आधार वास्तविकता से बहुत दूर होता है। यदि उन्हें उतनी सुन्दरी युवती पत्नी रूप में प्राप्त हो भी जाये तो वह सुख स्वप्न पूण हो जायगा, यह आवश्यक नहीं कि चमड़ी सफेद ही हो अथवा गाने में अप्सरा सी ही हो। अथवा बी० ए० पास ही हो। अच्छी गृहणी बनती है त्याग से, सौम्य स्वाभव से और प्रेम से। समझ चाहिए व्यवहार की;

---

१ जवानी के समय का।

बी० ए० पास होने से ही वह पैदा नहीं हो जाती; प्रायः लुप्त हो जाती है।

यह जो रूप की मदकता[1] है यह सदैव रहेगी नहीं। रोग और बढ़ती हुई आयु इसे हर लेगी। रूप यदि गर्व को साथ लायेगा तो वह पहिले से ही किरकिरा रहेगा ही। दूसरा, तुम्हें भी किसी पैमाने पर पूरा उतरना होगा। और यदि तुम अपनी पत्नि के रूप पैमाने पर पूरे न उतरोगे तो भी मज़ा न होगा। सच्च तो यह है कि रूप के आधार पर पैदा हुई प्रीति बहुत पतली होती है। वह गहराई तथा त्याग से शून्य होने से टिक नहीं पाती। इन्द्रियाँ सुख की इच्छा प्रधान रहने से वह पशुत्व की ओर ले जाती है। जो रूप के विषय में सत्य है वह और बातों के बारे में भी सत्य है। स्त्री की शिक्षा अथवा अन्य योगतायें आपके गर्व का कारण हो सकती है, समाज में आप उनके बूते पर सर ऊँचा करके चलना चाहेंगे, परन्तु यदि कोरी योग्यता ही है और उसके साथ आत्मत्याग तथा अन्य गुण नहीं हैं तो भी गृहस्थ जीवन कल्याण कारी न होगा।

बजाय सुख स्वप्नों का निर्माण करने के और निराशा का बीज बोने के भला हो यदि आप वास्तविकता के लिये तैयार हो जायें। आपका विवाह हुआ, या होने जा रहा है। आप अपनी ओर से पूरा पता करने की भले ही चेष्टा कर लीजिएगा, परन्तु यदि आप आशाओं के पुल बाँधेंगे तो सम्भव है कि आपको घोर निराशाओं का सामना करना पड़े। सत्य तो यह है कि गृहस्थी बनानी होती है, और यह पति पत्नि दोनों का

[1]नशा

साझा खेल है। यदि प्रत्येक अपनी जिम्मेदारी को बुद्धिमत्ता पूर्वक निभायेगा तो अच्छी गृहस्थी बन सकेगी। यदि आपका विवाह हुआ है तो अपने वर्तमान सम्बन्ध को स्वीकार करो सहर्ष। इसको अधिक अच्छा बनाने की चेष्टा करो। निराशादि का चिन्तन दुःख का कारण होगा।

यहीं पर मुझे दहेज प्रथा की चर्चा कर देनी चाहिए। लड़का पिता की कमाई में हिस्सेदार होता है, परन्तु लड़की को जो उसमें से मिलता है दहेज ही में मिलता है। यह इस प्रथा का आर्थिक पक्ष है। कोई समझदार पिता अपने बच्चों से प्यार करने वाला पिता अपनी लड़की के लिये सब कुछ करेगा जो वह कर सकता है। उस पर किसी बात के लिये दबाव डालना बिलकुल अनुचित है। दहेज प्रथा विवाह-जगत का पूंजीवाद है। इसके कारण कितनी युवतियाँ अपने योग्य वरों से वंचित रह जाती हैं, कितने पिता आहें भरते रह जाते हैं अपनी बढ़ती हुई कन्याओं के लिये। यह वास्तव में स्त्री जाति का तिरस्कार है। 'मैं तुम्हारी कन्या को स्वीकार करूंगा यदि तुम मुझे इतना रुपया दोगे। अमुक अधिक देता है इसलिये मैं तुम्हारी कन्या को ग्रहण नहीं कर पाता' यह विचार धारा धन-लोलुपता[1] की बुद्धि हीनता की परिचायक[2] है। व्यक्ति की वृत्तियों को ही मलिन नहीं करती, विवाह के उपरान्त भी बहुत दुःख का कारण होती है, प्रायः कन्या और उसके माँ बाप के लिये। दहेज की प्रथा बंगाल में तो अनेकों युवतियों की आत्म हत्या का कारण हुई है।

---

[1] लोभ। [2] जाहिर करने वाला।

इस प्रथा के उठ जाने की बड़ी आवश्यकता है। यह काम युवक लोग आरम्भ कर सकते हैं और यह करणीय है। हमारी अपनी, हमारी युवा बहिनों और पुत्रियों की अन्तरात्मा इस बात को पुकार कर रही है।

युवकों में भी प्रवृत्ति दिखाई पड़ रही है, विवाह के बन्धन से बचने की। कई कारण हैं इसके, परन्तु मुझे वही कुछ कहना है अविवाहित जीवन के बारे में जो मैंने गत परिच्छेद में युवतियों के लिये कहा है। कोई ऊँचो लगन कोई ऊँचो लक्ष्य ही आपको ऐसे जीवन का पात्र बना सकती हैं। अन्यथा सौम्यता की मांग है इस जिम्मेदारी को ग्रहण करना।

तन को पवित्र रखना और मन को निर्मल बनाये रखना आपके भविष्य को हो मांग नहीं, देश के भविष्य की भी मांग है। पवित्रता महान् बल है सब प्रकार से। यौवन में बरबाद किया हुआ तन भविष्य को अन्धकार-पूर्ण कर देगा। आप अपने लिये कुछ गणनीय बात कर न पायेंगे और राष्ट्र भो आपकी श्रेष्ठ सेवाओं से वंचित रह जायेगा। आपको भी इस सन्तानोत्पत्ति के कार्य में योग देना होगा। इसके लिये भो संयम आवश्यक है। विद्यार्थी जोवन में संयम होगा तो बाद में भी संयम संभव है। अन्यथा आपको संतान कामात्मता की-कामुकता की संतान होगी और वह संतान न आपके लिये मंगलमय होगी, न राष्ट्र के लिये। आप को भविष्य बनाना है, जैसे बच्चे आप पैदा करेंगे वैसा ही राष्ट्र बन जायेगा।

यह महान कृत्य तैयारी मांगता है, तप मांगता है। जीवन में संयम आना चाहिए। सुख भोग के लिये जीवन न होकर

राष्ट्र के लिये, भगवान् के कृत्य के लिये, कतव्य के लिये होना चाहिए। ऐसा होने पर आप जानेंगे कि वास्तविक सुख का यही मार्ग है।

काम सम्भोग की मर्यादा हैं सन्तति की इच्छा ही है। यह याद रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त सभी व्यभिचार है। सन्तानोत्पत्ति के लिये ऋतुगामी गृहस्थी ब्रह्मचारी है।

अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान्
विश्वानिदेव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेय ॥

"ले चलो कल्याण मग में, देव ! तुम पथ रम्य से,
सब साधनों के बोध से सम्पन्न हो तुम, हे हरे
नष्ट कर दो वक्रता, अग्ने ! जो हम में है सनी,
बार बार, बहु बार तुमको बन्दना हो, अग्रणी"

परिशिष्ट

श्रीराम

दिगोली,
अल्मोड़ा
२-८-४६

प्रिय······

आप में काम है। अपने विवाहित जीवन में आप उसे निरंतर तृप्त करते रहे हैं। इसलिए शुक्र ग्रंथियों को वीर्य बनाने और समय समय पर बाहर निकालने का स्वभाव हो हो गया है। आपका प्राण समय समय पर सहवास सुख को प्राप्त करने का आदी हो गया है। इसलिए उसके लिए तृषित रहता है। यह वास्तविक स्थिति है। आप चाहते हैं कि आप अपने को संयमित कर सकें, ताकि किसी प्रकार की शारीरिक क्रिया में आप प्रेरित न हो सकें। कारण वह आपकी साधन में बाधक होती है।

समस्या को सुलझाने के हेतु यह विधि, संघर्ष की सृष्टि करती है, और ऐसा प्रतीत होता है कि आप 'प्राण' से संघर्ष कर रहें हैं। वह क्या वस्तु है, जिससे आप उसपर विजय प्राप्त कर सकते हैं? बुद्धि? जब संस्कार उमड़ते हैं, शक्तिहीन "वह", उसमें विलीन हो जाती है। वह सबल हो ऊपर तब ही आती है, जब बहुत देर हो चुकती है। इसके अतिरिक्त जब तक "हमारी विजय" (यदि वह कभी संभव है) तर्क एवं बुद्धि पर आश्रित है। वह बहुत ही फिसलनी स्तल पर है। आपको बार-बार उस स्थिति का सामना करना पड़ेगा जिसे आप 'पतन' कहते हैं।

संस्कारों की पूर्ण क्षति, ही इस काम समस्या का स्थायी हल है। "प्राण" से संघर्ष करने में आप केवल कुछ समय के लिए ही उसे दबा सकेंगे यदि आपको सफलता भी मिले। उसकी पुनः द्विगुणित वेग से प्रज्वलित होने की संभावना है किंतु यदि संस्कार क्षीण होते जायें एक समय आयेगा जब हम पतन की संभावना का ही अतिक्रमण कर चुकेंगे। यह एक दिन में संभव नहीं। जितनी ही मात्रा में, उस महती-शक्ति का आप में अवतरण होगा, आपकी चेतना के साधारण-स्तर को को वह ऊँचा कर सकेगी। उतनी ही शीघ्रता के साथ उन संस्कारों का क्षय होगा।

स्वस्थ दृष्टिकोण तो है, ईश्वर से पूर्ण एकाकार हो जाने की अभिलाषा, उसके ही पूर्ण रूप से हो जाने की कामना, उसके लिए जितनी साधना हो सके, करने का प्रयत्न कीजिए। उतनी ही तेजी से आगे बढ़ना चाहिए, जितना वर्तमान स्थिति में संभव है। विफलताओं को बहुत न समझना चाहिए। वस्तुतः मैं तो उन्हें 'विफलता' ही मानने के लिए प्रस्तुत नहीं। वर्तमान-स्थिति के लिए जहाँ आप हैं इस समय ये स्वाभाविक हैं। आंतरिक प्रगति के कारण जब आप स्थान बदलेंगे वे स्वतः ही नष्ट हो जायेंगे।

मेरा तात्पर्य, इन शब्दों द्वारा यही है कि मैं इनको बहुत बड़ी वस्तु नहीं समझता। मैं आपसे भी यही आशा करता हूँ कि आप भी उस पर विशेष ध्यान न देंगे। जब प्रेरणा आती हैं, समझ लें कि वह प्राण का तृप्ति के लिए रुदन है। भयभीत न होइए। उसके दमन के हेतु संघर्ष भी न करिए। माँ के सम्मुख नतमस्त हो जाइए। विशुद्ध हृदय से, सरलता से नमित

हो उसकी आज्ञा की प्रतीक्षा करिए, और उससे एकत्व प्राप्त करने के हेतु नाम स्मरण ही एकाकी उपाय है। धनात्मक एवं ऋणात्मक, दोनों ही प्रेरणायें संभव हैं। यदि वह ऋणात्मक है, काम स्वतः ही शान्त हो जायेगा। यदि धनात्मक, जान लो कि दैवी शक्ति की इच्छा है—तृप्ति के हेतु। आपके संस्कार तृप्ति की कामना रखते हैं। इस रूप में स्वीकृत भोग द्वारा, संस्कारों का क्षय हो जाता है। वस्तुतः वह साधना है। इस बात की आशा न रखिये कि इस प्रकार आप तत्काल विजय प्राप्त कर सकेंगे। यह तो अहं प्रभुत्व के लिए मचल रहा है। आपकी प्रभुताविजय तो उस भागवती इच्छा के अनुसरण करने में है। एक दिन आयेगा जब आध्यात्मिक प्रगति के लिए काम संस्कारों के क्षय के लिए, भोग की आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी। अन्तरात्मा दृढ़ता से घोषित करेगी—"बस, मुझे इसकी और आवश्यकता नहीं और तब समस्या सदा के लिए विलीन हो चुकेगी।

मैं "काम" को पाप नहीं समझता। प्रत्येक व्यक्ति के लिए, प्रत्येक स्थिति में, मैं इसे आध्यात्मिक विकास में बाधक नहीं समझता। मैं "काम" को भी दिव्य मानता हूँ, तथा विकास के हेतु, विकास की एक विशिष्ट स्थिति में नितांत अनिवार्य। उस स्थिति के व्यतीत होने पर, वह स्वतः नष्ट हो जाती है।

यह क्रान्तिकारी दृष्टिकोण, कतिपय समस्याओं को उत्पन्न कर सकता है। इस प्रकार साधक, काम तृप्ति के जीवन को व्यतीत करने से बच्चे उत्पन्न कर सकता है, जो कि दोनों पति पत्नी के लिए महान उत्तरदायित्व का कारण होता है। मैं ऐसे दम्पत्ति को यही परामर्श दूँगा कि वे संतान-निरोधक

साधनों का प्रयोग करें। कुछ निर्दोष यंत्रों का प्रयोग किया जा सकता है, किंतु औषधियों का सेवन कभी नहीं। यह तो अंतिम साधन है। यदि मिलन के विशेष दिन नियत कर लेने की सावधानी रखी जाए, तो मेरा विश्वास है, यंत्रों की आवश्यकता ही न होगी। (दम्पत्ति स्वयं अपने अनुभव से इन सब बातों को ज्ञात कर सकते हैं)

आप सोच सकते हैं—शास्त्रों में काम की इतनी निन्दा की गई है, और यह युवा ब्रह्मचारी इस प्रकार के अशास्त्रीय विचार प्रस्तुत कर रहा है। जो बातें मैं आपसे कह रहा हूँ वे भीषण हैं—भयानक हैं—पर यह वह हैं जिसके अनुसरण से किसी न किसी दिन साधक, सदा के लिए, 'काम' के प्रभाव से मुक्त हो जायेगा। बड़ी सरलता से वह इसका अतिक्रमण कर जायेगा, विना किसी अन्तर या बाध्य वेदना के, दमन एवं निराशा के। विफलतायें उतना ही उस भागवती-शक्ति के समीप उसे ले आयेंगी जितना कि सफलतायें। (किंतु इन सब बातों को सफलताओं एवं विफलताओं की दृष्टि से देखना ही उपयुक्त नहीं—यह तो मैं सोचता हूँ आप समझ ही चुके होंगे।)

श्रीराम

दिगोली
अल्मोड़ा
१६-८-४६

प्रिय......

आपका ६ ता० का पत्र मिला।

जिस प्रकार स्त्रियों में, उसी प्रकार पुरुषों में भी काम-प्रवृति के प्राधान्य का एक विशिष्ट चक्र होता है। आपने भी शायद अनुभव किया होगा। जिस समय वह दौर चलता है मनुष्य विक्षिप्त सा हो उठता है। पर यदि व्यक्ति यह जानता है कि यह सदा के लिए नहीं रहता, और कुछ दिनों बाद स्वतः शान्त हो जायेगा। तो वह इस स्थिति का सामना शांति से कर सकेगा। कुछ व्यक्तियों में जो कामुक-जीवन के अभ्यस्त होते हैं, इसका निरोध, स्वप्न दोष का रूप धारण कर लेता है। यदि ऐसा हो भी तो, घबड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं। यह भी कुछ समय के उपरांत स्वतः बन्द हो जावेगा। सम्भोग और स्वप्न दोष की कोई तुलना हो ही नहीं सकती। प्रत्येक दौर के समाप्त होने पर कामवेग की तीव्रता कुछ कम हो जायेगी। इन तूफानी दौरों का सामना करने के लिए हमें सदा तैयार रहना चाहिए।

जितना ही आप साधना में आगे बढ़ेंगे, शक्ति की धारा आपके संस्कारों को बहाने लगेगी आपको 'वासना' तीव्रगति से पुनः जागृत होती हुई सी प्रतीत होगी। उस स्थिति में आपको केवल यह सोच लेना चाहिए कि माँ आंतिरिक्त शोधन के कार्य

में प्रवृत्त हैं। परिष्कार हेतु संस्कार उद्दिष्ट हो रहे हैं। अनेकों बार परिशोधन-क्रियायें होंगी, और प्रत्येक के साथ काम वेग पूर्व से शांत हो जायेगा। नारी, धीरे-धीरे नारी न रह जायेगी। विशिष्ट भेद और परिणाम-स्वरूप प्रतिक्रिया भी स्वतः विलीन हो जायेगी।

यहाँ पर मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूं कि जितना ही आप विपरीत सेक्स, से दूर रहने का प्रयत्न कीजिएगा, उतना ही आप अपने को बद्ध पायेंगे। विपरीत सेक्स से सम्पर्क, स्वाभाविक रीति से जो होता है, वह वस्तुतः साधक की कामवासना को क्षीण कर देता है। मैंने स्वयं देखा है इस विषय में व्यक्तियों में पारस्परिक सामान्यता का भाव उदित होते हुए, सम्मिलित कैम्पों में। नारी का बहिष्कार करना केवल इस हेतु कि वे नारी हैं, अपने पर भगवान के रोष का अवतरण करना है। और यह एक सत्य है कि 'काम' का जितना ही अधिक दमन होगा उतनी ही अधिक भीरुता और पलायन की प्रवृत्त प्रबल होती है।

प्राण ही पर हमारा भौतिक जीवन निर्भर है। वह एक पृथक चेतना की सृष्टि करता है, और अपनी निजी इकाई ले कर किया करता है। इसकी अपनी अभिरुचियाँ होतीं हैं, जिनके अस्तित्व को वह स्थायी रूप से बनाये रखना चाहता है। मुझे आश्चर्य है आपने "अध्यात्मिक साधना" पढ़ने की चेष्टा भी की अथवा नहीं। आप इन सब बातों को उससे समझ सकते हैं। अच्छा होगा यदि आप ठीक तौर से, उन दो पुस्तकों को, तथा वह जो कि शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रही है, समझने की चेष्टा करें।

साधना के पथ में 'काम' बाधा के रूप में आता प्रतीत होता

है । प्रभु से एकीकरण जभी सम्भव जब हमारा अतःकरण पवित्र हो, पवित्र ऐसा कि पुनः दूषित होने की सम्भावना हो ही न। काम-विकारों के अन्दर होने से, हमारे भाव-मय एवं प्राणमय कोषों में निम्न-कोटि के संस्कारों के विद्यमान होने पर "एकत्व" कभी भी सम्भव नहीं। चेतना का ऊँचे स्तरों में स्थायी रूप से निवास करने के पूर्व परिशुद्धि नितांत अनिवार्य है। ये आवेग वा उद्वेग, उत्थान अथवा पतन, निराशायें एवं मनोवेदनायें, तथा मानसिक विप्लव, सब उस आंतरिक विकार के भस्मीभूत होने में योग देते हैं, जब एक बार हम 'उसके' लिए ही जीवित रहने का दृढ़ संकल्प कर लेते हैं। जब विप्लव का आगमन होता, हमें उसका परिशुद्धि क्रिया के रूप में अभिनन्दन करना चाहिए। उसी प्रकार जिस प्रकार एक प्राकृतिक चिकित्सक उस चरम-स्थिति का स्वागत करता है, जो शरीर के विकारों को बाहर निकाल कर उसे शुद्ध कर देती है! चरम-स्थिति दुखमय होती है, अवश्य किंतु वह उत्तम स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य भी। इसी प्रकार प्रत्येक विप्लव, कष्टदायी होता है किन्तु अनिवार्य भी आंतरिक परिशुद्धि के लिए। प्रत्येक विप्लव के उपरांत अपने को उसके प्रारम्भ होने के पूर्व की अवस्था से स्वस्थ अनुभव करेंगे।

यह पूछा जा सकता है—"क्या कोई सरल-पथ नहीं? क्या इस कष्टप्रद क्रिया से हम बच नहीं सकते? मैं तो ऐसी कोई विधि नहीं जानता। हममें इसके सहन करने का साहस होना चाहिए। प्रभु हमें शक्ति देंगे, एक बार यदि हम भली भाँति इसे समझ लें, और इन विप्लवों में निहित शक्ति को पहचान लें।

सावधान रहिए। जब हम प्रभु को अपनी सफलता का श्रेय

देते हैं, तब भी सम्भव है कहीं 'द्वन्द' पीछे ना छुपा हो, और उसी श्वास में अपनी अभिव्यक्ति का यत्न कर रहा हो।

बुद्धिमान व्यक्ति, यश एवं अपयश दोनों ही 'उसे' दे देते हैं। वस्तुतः दोनों यश और अपयश समान हो जाते हैं। वह

दोहा--"गुण तुम्हार समझई निज दोषा।
जेहिं सब भाँति तुम्हार भरोसा॥

बच्चों की प्रारम्भिक अवस्था के लिए सुन्दर है।

जिस व्यक्ति में कामुक जीवन के प्रति आकर्षण है, किसी ऊँची वस्तु का न तो ज्ञान ही है, और ना आकांक्षा ही, उक्त दृष्टिकोण के होने पर भी जो मैंने अपने पूर्व पत्र में प्रकट किया है। वह उपभोग में लिप्त रहेगा। उसे अभी और अनुभव की आवश्यकता है, इससे पूर्व कि वह किसी उच्च स्थिति के लिए योग्यता प्राप्त कर सके। समय से पूर्व निरोध, भविष्य में लाभ से अधिक हानि का कारण होता है। कीमत तो देनी ही होगी, इससे पूर्व, कि व्यक्ति किसी उच्च ज्ञान को प्राप्त करने के योग्य हो सके। और वह कीमत है, दुख भोगना और भूल करना। हाँ! वह भले ही समझे कि वह साधना कर रहा है जब कि वास्तव में वह प्रकृति की ओर अग्रसर हो रहा है। भूल का सुधार तो होता ही है। प्रकृति जानती है किस प्रकार उसे करना है। "दुख" एक महान शिक्षक है।

'अमलतास', के हेतु ना केवल वाह्य पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता है, सदा जागरूक रहने की भी आवश्यकता है। जागृति के विना, अनुभव से शिक्षा ग्रहण करना सरल नहीं।

श्रीराम

चितइ
अल्मोड़ा—२६-८-४६

प्रिय......

मुझे आशा है, आपको मेरा २६ ता० वाला पत्र मिल गया होगा। यह, जो कुछ मैंने लिखा था, उसी के सिलसिले में है।

विवाहित जीवन में, सेक्स संबन्धी, एक गंभीर समस्या अभी अवशिष्ट है। पति, पत्नि, सदा, विकास के एक ही स्तर पर नहीं रहते। ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ दोनों में से एक ने तो संतोष पूर्ण जीवन व्यतीत करने की आवश्यकता की अनुभूति कर ली है, किन्तु दूसरा अभी 'काम' के विषम फंदे में ग्रस्त है। साधक जब इस प्रकार के जीवन-साथी का सामना करता है तो वह किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो उठता है। वह दुखी हो सकता है। अस्तु, किस पथ को उसे ग्रहण करना चाहिए ?

पथ बिल्कुल स्पष्ट है। उसे अपने जीवन-संगी को तृप्त करना है, किन्तु तृप्ति की याचना पर केवल एक-निर्धारित-सीमा तक। साथ ही उसका यह कर्त्तव्य है कि वह अपने जीवन-साथी को शिक्षित करने का प्रयास करे। सवतो मुखी शिक्षा द्वारा, जीवन की उच्च बातों पर विशेष जोर देने से, तथा उन बातों में अभिरुचि उत्पन्न कराने का अनवरत प्रयास समय के अंतर से जीवन के इस पक्ष को भी प्रभावित करेगा। सेक्स, उसका जीवन में उचित स्थान, और उसका साधना से संबन्ध, के विषय में समुचित ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति के लिए

अनिवार्य है। पर केवल शिक्षा, से सब कुछ संभव नहीं। पर, एक नवीन उच्च चेतना के प्रयोग में भी (जिसके बिना अतरात्मा भावी विकास के लिए प्रस्तुत ही नहीं हो पाती) 'अनुभव' ही, अन्य स्थलों के समान एक आवश्यक यंत्र है। कुछ लोगों को अधिक अनुभव की आवश्यकता होती है, कुछ को कम। एक ऐसा समय था जब साधक भी उसी स्थान पर था जहाँ आज उसका जीवन-साथी खड़ा है। किसी को दुखी इस बात पर न होना चाहिए, कि उसके भाग्य का सम्बन्ध विकास के निम्न श्रेणी के व्यक्ति से हुआ है। शक्तियाँ आपके कर्मों की आवश्यकताओं की तथा विकास की माँगों को भली भाँति जानतीं हैं, और वैसे ही उन्होंने विधान भी रचाया है। अपने, भाग्य को सहर्ष स्वीकार करिए।

वासना से निवृत्ति केवल उस समय ही प्राप्त नहीं हो जाती, जब कि अन्तरात्मा शारीरिक क्रिया की आवश्यकता का अतिक्रमण कर चुकती है और उसको पूर्व रूपेण बहिष्कृत कर चुकती है। वह तो प्रारंभ-मात्र है। 'काम' की जड़ प्राण में है, जिसने मनोमय एवं भाव मय कोसों को भी आबद्ध कर लिया है। वहाँ से कामवासना एवं काम संस्कार दोनों को समूल रूप से नष्ट करना है, इससे पूर्व कि कोई काम से पूर्व रूपेण मुक्त हो सके। यह एक ऐसा कार्य है जिसमें धैय की आवश्यकता है, और शोधन कार्य की गति और भी अधिक तीव्र से हो जाती है, यदि बिना चेष्टा के अथवा इच्छा के उसकी अभिव्यक्ति भौतिक स्तरों पर शारीरिक क्रिया द्वारा होती है। अतएव साधक, इस प्रकार, अपने जीवन-साथी के हेतु काम सम्बन्धी क्रिया को करता हुआ, अपने संस्कारों का शीघ्रता से क्षय करने में समर्थ होगा,

अन्यथा उसे उन्हें अति-भौतिक-स्तरों (Super ·Physical planes) पर क्षीण करना होगा। यदि समुचित भावना, अर्थात त्याग की भावना से की जाये, तो वह प्रशंसनीय है, और उसका बहुत अधिक मूल्य है, कारण वह अहं की मूल पर ही कुठाराघात करती है, जैसा कि समस्त त्याग की भावना करती है। स्मरण रहे, कि माँ आपको स्वय्, काम वासना सम्बधी समस्त शरीरिक, क्रियाओं के ऋण से मुक्त कर देगी, जब कि आप के लिए वह आवश्यक न होगी। वह यह कर सकती है। उसके करने के तरीके अनेक हैं।

यह स्पष्ट रीति से समझ लेना चाहिए। कि दूसरा साथी, किसी को काम-पाश में आबद्ध नहीं कर सकता। वह अवश्य आबद्ध करेगा यदि आप अज्ञानी हैं और शृंखलाओं के और दृढ़ होने की आप में आवश्यकता है, ताकि उनके नष्ट होने पर आप और शक्तिशाली हो कर निकलें। किन्तु यदि आप में अभीप्सा उत्पन्न हो जाती है आत्मा काम के अतिक्रमण के लिए प्रस्तुत है, तो साथी, के शीघ्रता से क्षय होने के लिए अवसर-प्रदान द्वारा काम के बन्धन को क्षीण करने में, वास्तविक रीति से आपकी सहायता करेगा। तब अध्यात्म-विकास में कितना बड़ा सहायक हो जाता है, जीवन साथी !

काम केवल शारीरिक क्रिया नहीं। वह तो उसका केवल पाश्विक अंश है, और 'जाति' के रक्षक के लिए अनिवार्य। पुरुष और नारी विभेद, प्राण के क्षेत्र के एक बहुत बड़े भाग तक विस्तृत है, और वह भाव तथा वुद्धि के क्षेत्र में भी वर्तमान है। उस अंतर को भी जाना होगा। और वह सामाजिक जीवन में एक दूसरे के संसर्ग में आने से दूर हो सकता है। संसर्ग में

आने पर जो संकोच होता है वह इसी अंतर के कारण है, (मैं उसे प्राण संबंधी अथवा विद्यु त संबंधी कह सकता हूँ) जो कि अंतर्निहित संस्कारों के कारण है। यदि आप जीवन में दूसरे के स्थान को स्वीकार कर लें, और घृणा का भाव विलुप्त हो जाये, तब आप धीरे धीरे समानता का अनुभव करने लगेंगे। लिंग-भेद का अस्तित्व ही आपके लिए न रह जायेगा।

नारी उस जगदम्बा की प्रतीक है उसे उसी रूप में ग्रहण करिये। क्या आप नहीं देखते कि वह आपको उस काम-भावना से परिष्कृत करती है, अपने आत्मत्याग द्वारा पत्नी के रूप में, साथ में माँ, बहन, पुत्री आदि के रूप में। उससे घृणा मत कीजिए, अन्यथा वह आपके लिए चंडी रूप धारण कर लेगी। आप उससे बच नहीं सकते। जितना ही आप भागने की चेष्टा करेंगे, उतना ही वह आपको अपनी मुट्ठी में रखेगी। यदि आप उसे महालक्ष्मी के रूप में ग्रहण करेंगे। वह वास्तव में आपके लिए माता बन जायेगी, और आपके विकास की तीव्रता के लिए, तथा निम्न-प्रकृति (अपरा प्रकृति) से मुक्ति के लिए, निशि दिन प्रयत्न करेगी।

नारी को भी पुरुष को उसी रूप में ग्रहण करना होगा। अगर वह पुरुष से घृणा करेगी तो वह उसके लिये भयानक 'रूद्र' का रूप धारण कर लेता है।

क्या अब आप अनुभव नहीं करते कि काम भी दैवी शक्ति है ? क्या आप नहीं देखते कि "काम" ही साधना है। क्या आप नहीं देखते कि भयभीत होने की कोई बात नहीं, यदि आप "माँ" के सामने नमित हो कर उसके अनुशासन को स्वीकार कर लें।

उसने पहले ही से आपके विकास के लिए सब वस्तुओं को सुन्दर रीति से व्यवस्थित कर रक्खा है।

साधना के पथ में, उच्च केन्द्र सब से पूर्व प्रभावित होते हैं, इसी हेतु मनोमय और भाव-मय कोषों की परिशुद्धि सर्वप्रथम होती है। परिणाम स्वरूप उच्च कोषों से उसके विनष्ट होने पर भी काम का प्रभाव भौतिक क्षेत्र पर बना रहता है। वस्तुतः व्यक्ति प्राण में उठते हुए विप्लव का साक्षात दर्शन कर सकता है। उन विप्लवों से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं। धीरे धीरे शक्ति 'प्राण' में कार्य करने लगेगी, और उसे बदल देगी। हमें केवल साक्षी बन कर देखना है, उसके कार्य को अबाध्य रीति से होने देना चाहिए वह हमारी आवश्यकता के अनुकूल करेगी।

भयभीत न हो। इन क्षणिक तूफ़ानों में बहने की आवश्यकता नहीं। महान शक्ति से सामीप्य प्राप्त करने की चेष्टा कीजिए, और अपने में उसे क्रियाशील देखिए। उसमें विश्वास रखिये। उन विप्लवों को आते ही पहचान लीजिए, और उन्हें स्वयं क्षीण होने दीजिए। जितनी तीव्रता से वह शक्ति कार्य करेगी। उतनी ही तीव्रता से वह प्राण के बंधन से आपको मुक्त कर लेगी। अस्तु उसकी ओर देखिये। उसी ओर आपकी समस्याओं का हल है।